

सौंदरनंद महाकाव्य

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

पौराणिक गद्य-काव्य की उत्तमोत्तम पुस्तकें

मेघनादवध	।।।)
कादंबरी	२।।।)
कादंबरी	।।)
किरातार्जुनीय	२)
दशकुमारचरित्र	१)
महाभारत (वार्तिक)	१०)
महाभारत (सचित्र)	४)
बेणीसंहार	।।=), ।।।)
वाल्मीक रामायण भा० टी०	१६)
वाल्मीक रामायण (भाषा)	१०)
सुखसागर	२।।), ४।।), ८)
शुकोक्ति सुधासागर	३।।)
हर्षचरित भाषा	।।)
उषा	२), २।।)
श्रीकृष्णचरित्र	२।।), ४), ४।), ४।।)
श्रीरामचरित्र	५।।), ६)

गंगा-पुस्तकमाला का उन्नासिवाँ पुष्प

सौंदरनंद महाकाव्य

(श्रीमहाकवि अश्वघोष-कृत काव्य का कथा-सार)

प्रणेता

अध्यापक रामदीन पांडेय एम्० ए०, बी० एड्

राँची-कॉलेज (बिहार)

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द ३) सं० १९८९ सादी

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

समर्पण

श्रीमान् टी० आर० स्पीलर एम्० ए०, आई० ई० एस्०

प्रिंसिपल न्यू कॉलेज, पटना

के

कर-कमलों में

सादर समर्पित ।

प्रणेता

वक्तव्य

सन् १९२३ ई० में जब मैं एम्० ए०-परीक्षा की तैयारी कर रहा था, उसी समय मुझे इस ग्रंथ के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसकी कविता तथा रचना-शैली ऐसी मर्म-स्पर्शिनी, उत्कृष्ट एवं सारगर्भित जान पड़ी कि मैंने इस महा-काव्य तथा इसके रचयिता से हिंदी-जगत् को परिचित कराने का संकल्प कर लिया। परीक्षा से निवृत्त हो मैंने "सौंदरनंद काव्य तथा भदंत अश्वघोष"-शीर्षक लेख स्वनाम-धन्य श्रीपंडित दुलारेलाल भार्गव की सेवा में, सन् १९२४ के एप्रिल में, संपादन के लिये भेजा। तत्पश्चात् मैंने प्रथम तीन सर्गों की संक्षिप्त कथा उपर्युक्त संपादक महोदय के पास प्रकाशन के लिये भेजी, पर लेख अपूर्ण होने के कारण प्रकाशित न हो सका। इसी बीच में मैं पटना-ट्रेनिंग कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने के लिये चला गया। मेरी इच्छा केवल इच्छा ही के रूप में रह गई।

ट्रेनिंग कॉलेज के जीवन का अंत कर जब मैं पटना न्यू कॉलेज में संस्कृत तथा हिंदी-साहित्य का अध्यापक नियुक्त

हुआ, तो मेरे आचार्य पटना-ट्रेनिंग-कॉलेज के प्रिंसिपल श्रीमान् जे० एच्० थिकेट एम्० ए० ने बिहार तथा उत्कल-प्रदेश की एकमात्र शिक्षा-पत्रिका मार्ग-अन्वेषिका (Path Finder) का संपादक मुझे नियुक्त किया। अस्तु, गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर इसी संपादकीय कार्य में दत्तचित्त रहा। कालचक्र के परिभ्रमण से जब मेरा स्थानांतर राँची-इंटरमिडियट कॉलेज में, १९२६ ई० के मध्य में, हो गया, तो मैं कुछ गोरखधंधे में पड़ गया। राँची का साहित्यिक क्षेत्र निराशा-जनक प्रतीत हुआ। इसका साहित्यिक वायुमंडल दूषित प्रमाणित हुआ। दो-चार* पुरातत्त्वान्वेषण के कार्य जो हाथ में लिए थे, उन्हें पाठ्य-भवन के एक कोने में रख देना पड़ा। संयोग से इस महाकाव्य की ओर दृष्टि पड़ी। इसके कथा-सार के प्रकाशन की आकांक्षा-तरंगों ने चित्त को प्रक्षुब्ध करना प्रारंभ किया। बस, फिर क्या था, इस ग्रंथ-वनस्पति के आरोपण में लग गया। जिस काव्य-वाटिका में प्रविष्ट हो पुष्प के उद्भव की प्रतीक्षा कर रहा था, वही आज हाथों में है। इस पुष्प को मैं गंगा-पुस्तकमाला के

---

१. प्राकृत तथा साहित्यिक पाली का सविस्तर इतिहास।
२. बौद्धकाल का पुरातन भारतीय भूगोल।
३. तुलसीदास तथा सतसई।
४. कुलपति।

सहृदय पाठकों को समर्पित करता हूँ। यदि इस कुसुम की गंध पाठकों के कोमल हृदय पर कुछ भी प्रभाव डाल सकी, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। इस पुस्तक के प्रकाशन में पं० दुलारेलाल भार्गव ने आशातीत सहायता की है। इनके साहाय्य के विना पुस्तक प्रेस का मुख न देख सकती। इसके लिये मैं इनका आभारी हूँ। पं० दुलारेलाल इस बीसवीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य-क्षेत्र की त्रुटियों को निर्वीर्य करने के लिये सचमुच कृतयुग के भार्गव हो रहे हैं। गंगा-पुस्तकमाला मेरी इस धृष्टता की साक्षी है।

इस पुस्तक की रचना में मैंने युक्ति तथा विवेक से अधिक काम लिया है। यद्यपि यह ग्रंथ महाकवि अश्वघोष के सौंदरनंद महाकाव्य का अनुवाद-मात्र है, तथापि इसका यह स्वरूप नितांत नवीन है। मनोविज्ञान की दृष्टि से संसार के प्रत्येक मनुष्य का कार्य उसकी आत्मिक शक्ति का प्रतिबिंब है। व्यक्ति-विशेष के कार्य की समता दूसरे के कार्य से नहीं हो सकती। उसके कार्य में व्यक्ति-विशेषता है। कालिदास वाल्मीकि नहीं हो सकते। पुनः पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, जिन्होंने कालिदासीय रघुवंश का अनुवाद किया है, कालिदास की प्रतिमा को अनूदित करने में समर्थ नहीं हो सकते। कविकुल-चूड़ामणि कालिदास का आत्मिक बल कुछ और था,

और उनके ग्रंथों को विभिन्न काया देनेवालों का मानसिक बल कुछ और ही है। यही बात मेरे इस प्रयास के प्रति संघटित होगी। कविवर अश्वघोष के काव्य की छटा कुछ और है और इस पुस्तिका की आभा कुछ दूसरी ही प्रतीत होगी।

साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रंथ इतिहास तथा काव्य, दोनों का सम्मेलन है। महाकवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' और 'सौंदरनंद' महात्मा बुद्ध के जीवन-चरित्र के उद्भव-स्थल हैं। चीनयात्री हिएनसांग का वृत्तांत तथा महाकवि बाण का हर्षचरित सम्राट् हर्षवर्द्धन के जीवन-घटना-स्थलों का भांडार हैं। कहने का तात्पर्य यह कि एक दूसरे की कमी की पूर्ति करता है। इस ग्रंथ में एक विशेषता यह है कि यह महायान-धर्म के नियमों को स्पष्ट तथा अभ्रांतिमूलक शब्दों में उल्लेखित करता है। बुद्ध को हम सर्वशक्तिशाली तथा सर्वज्ञ की स्थिति में पाते हैं। जिस समय वह कपिलवास्तु लौटे हैं, जिस समय वह नंद को हिमवान् के उन्नत शिखर पर ले जाते हैं, जिस समय वह नंद को नंदन-वन की सैर कराते हैं, उस समय उनकी दीप्ति सर्वशक्तिशाली की तेजस्विता-सी भासती है। तपस्या तथा योग की अपार शक्ति का भी प्रगाढ़ परिचय मिलता है। इस महायान-पंथ तथा ब्राह्मण-धर्म में

बहुत कुछ साम्यभाव देख पड़ता है। इस प्रकार के विचार हीनयान बौद्ध-धर्म के विचारों से विभिन्न प्रतीत होते हैं।

इस ग्रंथ के अध्ययन से ग्रंथ-प्रणेता की अपूर्व मनोवैज्ञानिक शक्ति का परिचय मिलता है। पतित मानव-जीवन का उद्धार किस रीति से किया जा सकता है, उसकी अपूर्व जानकारी अश्वघोष महाशय को प्राप्त थी। जीवन का प्रधान उद्देश्य दूसरों का उपकार करना है। इस काव्य में इसी उद्देश्य का परिपाक हुआ है। बौद्ध-धर्म के गहन तथा गूढ़ सिद्धांतों का प्रतिपादन भदंत के सरस, सरल तथा सारगर्भ शब्दों में किया गया है। इसकी विशेषता पढ़ने से ही प्रकट होगी।

रामदीन पांडेय



उपक्रम

सौंदरनंद-काव्य तथा भदंत अश्वघोष

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।" (साहित्य-दर्पण)

संस्कृत-साहित्य में 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहते हैं।

काव्य के लक्षण

काव्य के चार भेद हैं—ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, शब्दचित्र तथा वाच्यचित्र। पुनः दृश्य और श्रव्य के भेद से काव्य दो प्रकार के होते हैं। नाटकादि को दृश्य-काव्य कहते हैं। इनके अनेक भेद होते हैं। दृश्य-काव्य में नट आदि राम-युधिष्ठिरादि की अवस्था का अनुकरण, अंग तथा वचन से, करते हैं। केवल श्रवण से सुनकर जिस काव्य के रस का अनुभव करते हैं, उसे श्रव्य-काव्य कहते हैं। श्रव्य-काव्य गद्यमय तथा पद्यमय होता है। गद्य-काव्य चार प्रकार के होते हैं—मुक्तक, वृत्तगंधि, चूर्णक तथा उत्कलिकाप्राय। जिस गद्य-काव्य में समास का अभाव हो, उसे मुक्तक और जिसमें समास की गंध हो, उसे वृत्तगंधि कहते हैं। समास-समन्वित गद्य को उत्कलिकाप्राय और अल्प समासयुक्त गद्य को चूर्णक-काव्य कहते हैं।

पद्य-काव्य के स्थूलतः तीन भेद हैं। यथा—महाकाव्य, खंड-काव्य और कोष-काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। इस काव्य में नायक सुर होते हैं, अथवा धीरोदात्तगुणान्वित, सद्वंशजात क्षत्रिय। इसमें एक वंश में उत्पन्न अनेक राजों का वर्णन रहता है। शृंगार, वीर तथा शांत-रस में से एक रस प्रधान रहता है। अन्य रस उस प्रधान रस के अंगी होते हैं। कहीं तो महाकाव्य में खलों की निंदा और कहीं सज्जनों की कीर्ति वर्णित रहती है। महाकाव्य में (न अति स्वल्प और न अति दीर्घ) आठ से अधिक सर्ग रहते हैं। संध्या, सूर्य, इंदु, रजनी, प्रदोष, अंधकार, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, वन तथा सागर के वर्णन महाकाव्य में पाए जाते हैं। खंड-काव्य एक ही अर्थ से युक्त संस्कृत-पद्यों से निर्मित होता है। मेघदूत आदि का शुमार खंड-काव्य में है। अन्योन्य अपेक्षा न रहनेवाले श्लोक-समूह कोष-काव्य हैं।

रचना

काव्य-क्षेत्र में सौंदरनंद का स्थान

सौंदरनंद महाकाव्य है। इसमें १८ सर्ग हैं। इस काव्य के रचयिता भदंत अश्वघोष हैं। इसमें शांत-रस प्रधान है। शुद्धोदन का द्वितीय पुत्र सुंदर, जिसका दूसरा नाम नंद भी है, इस काव्य का नायक है।

अब प्रश्न यह है कि भदंत अश्वघोष की लेखनी ही से

सौंदरनंद का रचयिता

इस काव्य का उद्भव हुआ है, अथवा अन्य कोई इस काव्य का कर्ता है ? नेपाल के राज-पुस्तकालय में एक ताड़पत्र पर लेख है। उससे यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि सुवर्णाक्षी के पुत्र भदंत, महावादी, अश्वघोष ही ने इस काव्य को बनाया। तिब्बती भाषा में अश्वघोष-कृत 'बुद्ध-चरित' का जो अनुवाद हुआ है, उससे भी अश्वघोष ही इस काव्य के रचयिता सिद्ध होते हैं।

सौंदरनंद तथा बुद्ध-चरित की काव्य-शैली

दूसरी बात यह है कि सौंदरनंद और बुद्ध-चरित एक दूसरे की कमी की पूर्ति करते हैं। फिर दोनों मिलकर बुद्ध के जीवन-चरित का सविस्तर वर्णन करते हैं। बुद्ध-चरित में कपिलवस्तु से बुद्ध के प्रस्थान, उनके अध्ययन तथा तप का विस्तार-पूर्वक उल्लेख है ; पर सौंदरनंद में इन विषयों की मीमांसा सूक्ष्म रीति से की गई है। कपिलवास्तु नगर का संस्थापन सौंदरनंद में विशेषरूप से लिखा है। कक्षीवान् गौतम के सदृश गौतम-वंशोद्भव कपिल हिमालय के पार्श्व में तप कर रहे थे। इसी समय कुछ इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार उन ऋषि के आश्रम में आए ; क्योंकि उनके पिता ने अपनी स्त्री के अनुरोध से उन्हें निर्वासित कर दिया था। महर्षि कपिल उनके उपाध्याय हो गए। गुरु के गोत्र से वह भी गौतम हो गए,

यद्यपि इसके पूर्व वह कौत्स कहलाते थे । विभिन्न गुरुओं की स्वीकृति से एक पिता के पुत्र भिन्न-भिन्न गोत्रावलंबी हो सकते हैं। जैसे राम गार्ग्य हुए और वासुभद्र गौतम—

"एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ;
राम एवाभवत् गार्ग्यो वासुभद्रोपि गौतमः ।"

ये इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार शाक्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है, शाक-वृक्षों से आच्छादित स्थान पर इनका आवास था, अतः ये शाक्य कहलाते थे। एक दिन कपिल ऋषि हाथ में जलपात्र लेकर आकाश की ओर उठे और इन शाक्य राजकुमारों से कहा—"आप लोग यान पर आरूढ़ होकर पृथ्वी पर गिरती हुई जलधारा को चिह्नित करें। उस चिह्नित स्थान पर अपनी राजधानी संस्थापित करें।" राजकुमारों ने ठीक वैसा ही किया और उस वास्तु (कपिल के आवास) पर कपिलवास्तु-नामक नगर बसाया। पर बुद्ध-चरित में इस नगर के संस्थापन का सूक्ष्म वर्णन है। बुद्ध-चरित नंद के बौद्ध-मत स्वीकार करने के विषय में केवल एक-दो बातें लिखता है; पर इस महाकाव्य में इस विषय का पूर्ण विवरण है।

वैदिक तथा पौराणिक इतिवृत्त की समता दोनों ग्रंथों में पाई जाती है। पराशर मुनि के दोष का उल्लेख बुद्ध-चरित के चतुर्थ सर्ग के ७६वें श्लोक में और सौंदरनंद के ७वें सर्ग के २९वें

श्लोक में है *। वसिष्ठ, पांडु, ऋष्यश्रृंग, गौतम, विश्वामित्र तथा अन्य ऋषियों का उल्लेख भी दोनों ग्रंथों में पाया जाता है।

तर्ष, धमन्, पुष्पवर्ष, प्रविद्ध आदि शब्दों का प्रयोग इन दोनों ग्रंथों में पाया जाता है। अशुद्ध गृह्य शब्द का भी प्रचुर प्रयोग दोनों ग्रंथों में हुआ है।

दोनों ग्रंथों की लेख-शैली प्रायः एक-सी है। कवि ने दोनों ग्रंथों में वैदर्भी रीति का अवलंबन किया है। विश्वनाथ कविराज के मत से—

"माधुर्य्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मका ;
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।"

ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर अन्य स्पर्श-वर्ण तथा लघु र, ण आदि माधुर्य-सूचक वर्ण हैं। इन वर्णों से समन्वित, समास-रहित या अल्प समास-युक्त रचना-शैली का नाम वैदर्भी रीति है। इनमें प्रसाद-गुण का भी प्राचुर्य है।

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः;
सप्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।"

(विश्वनाथ)

"अर्थवैमल्यं प्रसादः" (वामन)

---

*पराशरः शापशरस्तथर्षिः कालीं सिषेवे झषगर्भयोनिम् ;
अतोऽस्य यस्यां सुषुवे महात्मा द्वैपायनो वेदविभागकर्ता।

"श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्;
साधारणसमग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।"

(मम्मट)

अर्थात् प्रसाद-गुण-युक्त वह रचना है, जिसके शब्द सुनते ही अर्थ भासित हो जाता है।

बुद्ध-चरित तथा सौंदरनंद में भिन्नता केवल इतनी ही है कि बुद्ध-चरित की रीति सौंदरनंद की रीति से कुछ कर्कश प्रतीत होती है। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण यह है कि कावेल साहब ने जिस लिपि का अवलंबन कर बुद्ध-चरित प्रकाशित किया है, वह दोषपूर्ण थी। दूसरा कारण यह हो सकता है कि बुद्ध-चरित कवि का प्रथम ही ग्रंथ होगा। इन बातों से विदित होता है कि अश्वघोष ही ने बुद्ध-चरित तथा सौंदरनंद की रचना की है।

सौंदरनंद काव्य का सौष्ठव

सौंदरनंद की कविता सरस, मधुर तथा मर्मस्पर्शी है। इस कविता में न नैषध के-से लावण्य-पूर्ण, ग्रंथिमय, श्लेषपूर्ण श्लोक ही दृष्टिगोचर होते हैं और न माघ के-से उपमामय, ललित और गांभीर्य-समन्वित श्लोकों ही के दर्शन मिलते हैं। साधारण समालोचक की दृष्टि में कालिदास की कीर्ति उपमा पर अवलंबित है। यदि ऐसी बात है, तो अश्वघोष यथार्थ में कालिदास को नाँघ जाते हैं। अश्वघोष की एक-दो कविताओं का उल्लेख मैं यहाँ प्रसंगवश किए देता हूँ—

"तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः
सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः ;
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभे-
तान्योन्य हीनाविवरात्रिचन्द्रौ ।"

भावार्थ—यदि नंद उस सुंदरी को न प्राप्त कर सकते, और यदि वह सुंदरी अपने पति का सेवन न कर सकती, तो दोनों विकल स्त्री-पुरुष इस प्रकार शोभा न पाते, जिस प्रकार रात्रि के विना चंद्र और चंद्र के विना रात्रि ।कालिदास की प्रायः इसी भाव की एक कविता लीजिए—

"परस्परेण स्पृहणीयशोभं
न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ;
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः
पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ।"

यह कविता भदंत की कविता के सामने नीरस जान पड़ती है। कवि ने बौद्ध-धर्म के गहन दर्शन का सरल, सरस तथा सुगम शब्दों में वर्णन किया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ;
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।

"श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्;
साधारणसमग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।"

(मम्मट)

अर्थात् प्रसाद-गुण-युक्त वह रचना है, जिसके शब्द सुनते ही अर्थ भासित हो जाता है।

बुद्ध-चरित तथा सौंदरनंद में भिन्नता केवल इतनी ही है कि बुद्ध-चरित की रीति सौंदरनंद की रीति से कुछ कर्कश प्रतीत होती है। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण यह है कि कावेल साहब ने जिस लिपि का अवलंबन कर बुद्ध-चरित प्रकाशित किया है, वह दोषपूर्ण थी। दूसरा कारण यह हो सकता है कि बुद्ध-चरित कवि का प्रथम ही ग्रंथ होगा। इन बातों से विदित होता है कि अश्वघोष ही ने बुद्ध-चरित तथा सौंदरनंद की रचना की है।

सौंदरनंद काव्य का सौष्ठव

सौंदरनंद की कविता सरस, मधुर तथा मर्मस्पर्शी है। इस कविता में न नैषध के-से लावण्य-पूर्ण, ग्रंथिमय, श्लेषपूर्ण श्लोक ही दृष्टिगोचर होते हैं और न माघ के-से उपमामय, ललित और गांभीर्य-समन्वित श्लोकों ही के दर्शन मिलते हैं। साधारण समालोचक की दृष्टि में कालिदास की कीर्ति उपमा पर अवलंबित है। यदि ऐसी बात है, तो अश्वघोष यथार्थ में कालिदास को नाँघ जाते हैं। अश्वघोष की एक-दो कविताओं का उल्लेख मैं यहाँ प्रसंगवश किए देता हूँ—

"तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः
सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः ;
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभे-
तान्योन्य हीनाविवरात्रिचन्द्रौ ।"

भावार्थ—यदि नंद उस सुंदरी को न प्राप्त कर सकते, और यदि वह सुंदरी अपने पति का सेवन न कर सकती, तो दोनों विकल स्त्री-पुरुष इस प्रकार शोभा न पाते, जिस प्रकार रात्रि के विना चंद्र और चंद्र के विना रात्रि । कालिदास की प्रायः इसी भाव की एक कविता लीजिए—

"परस्परेण स्पृहणीयशोभं
न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ;
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः
पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ।"

यह कविता भदंत की कविता के सामने नीरस जान पड़ती है।

कवि ने बौद्ध-धर्म के गहन दर्शन का सरल, सरस तथा सुगम शब्दों में वर्णन किया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ;
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।

तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ;
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।
(सर्ग १६, श्लोक २८-२९)

अर्थात् जब दीपक निर्वाण को प्राप्त होता (बुझ जाता) है, तब वह न पृथ्वी को जाता है, न अंतरिक्ष को, न दिशा को, न विदिशा को, स्नेह (तेल) क्षीण हो जाने के कारण केवल शांति को प्राप्त होता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य निर्वाण को प्राप्त होता है। निर्वाण प्राप्त होने पर न वह पृथ्वी को जाता है, न अंतरिक्ष को, न दिशा को, न विदिशा को। वह क्लेश का क्षय होने के कारण शांति को प्राप्त होता है।

ग्रंथकार का संक्षिप्त परिचय

काव्य के अंत में सुवर्णाक्षी-पुत्र, साकेत-निवासी, आर्य भदंत, महापंडित तथा महावादी आदि उपाधियाँ कवि के नाम के साथ लिखी हैं। इन उपाधियों से यह स्पष्ट है कि यह कवि महान् लेखक तथा उच्च कोटि का धर्म-प्रचारक था। नानजियो (Nanjio) के लेखानुसार यह कवि सात ग्रंथों का रचयिता समझा जाता है। सुजुकी (Suzuki) का कथन है कि इस कवि ने आठ पुस्तकों की रचना की। महायान धर्मोदय का अनुवाद,

जो अँगरेज़ी में सुज़ुकी ने किया है, महायान-शाखा का प्रवर्तक है। इससे स्पष्ट है कि यह कवि महायान-धर्म का अनुयायी था। चीन देश में यह बात प्रसिद्ध है कि अश्वघोष कनिष्क के धार्मिक उपाध्याय थे।

सम्राट् कनिष्क के राजत्व-काल में जो बौद्ध-सभा हुई थी, उसमें अश्वघोष का सभापति के पार्श्व से अवरोहण पंक्ति में तृतीय स्थान था। इन बातों से प्रतीत होता है कि खीष्ट की प्रथम शताब्दी में यह वर्तमान थे। सारनाथवाले अशोक-स्तंभ से स्पष्ट है कि यह कनिष्क के राज्य के चालीसवें वर्ष में विद्यमान थे। उस शिलालेख में इनका राजा अश्वघोष कहकर उल्लेख हुआ है। आजकल शक्तिशाली महंत लोग जब राजा अथवा महाराजा की उपाधि से विभूषित रहते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या कि हमारे चरित्र-नायक राजा की उपाधि से विभूषित हों।

इसके जन्म-स्थान के विषय में सुज़ुकी कहता है कि उत्तर-भारत ही में यह उत्पन्न हुए होंगे। किंवदंती के अनुसार आप साकेत के निवासी थे। साकेत वर्तमान अवधप्रांत का प्रधान नगर था। बौद्ध-ग्रंथों के अवलोकन से भी विदित होता है कि साकेत कोशल का प्रधान नगर था। अयोध्या और साकेत एक ही नगर के दो नाम हैं। बौद्ध-चरित तथा सौंदरनंद में

कवि ने जो अगाढ़ वैदिक ज्ञान का परिचय दिया है, उससे उनका ब्राह्मण होना सिद्ध होता है।

भारत के बड़े-बड़े कवियों में इनकी गिनती है। पुरातन तथा मध्यकाल में इनकी ऐसी प्रसिद्धि थी कि अनेक कवियों के भी काव्य आप ही के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

यह बौद्ध-मतानुयायी थे; महायान-मार्ग का अनुसरण करते थे। इन्होंने अपने ग्रंथों में वैदिक शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। अनुप्रास के आप बड़े प्रेमी थे। प्रथम सर्ग में आप शाक्य-राजकुमारों के राष्ट्र का वर्णन करते हुए अपनी आलंकारिक निपुणता का परिचय इस प्रकार देते हैं—

"तन्नाथवत्तैरपि राजपुत्रै-
रराजकं नैव रराज राष्ट्रम्;
तारासहस्रैरपि दीप्यमानै-
रनुत्थिते चन्द्र इवान्तरिक्षम्।"

जीवन की असारता का वर्णन करते हुए कवि ने बौद्ध-धर्म के तत्त्व जताने में तनिक भी त्रुटि नहीं की है। प्रसंगवश कुछ श्लोकों का उल्लेख किए विना लेखनी आगे नहीं बढ़ती—

"तस्माज्जरादुर्व्यसनस्य मूलं
समासतो दुःखमवैहि जन्म;

सर्वौषधीनामिव भूर्भवाय
सर्वापदां क्षेत्रमिदं हि जन्म।"

अर्थात् हे मनुष्यो, इसलिये संक्षेप में इस जन्म को ही जरा आदि व्यसनों की जड़ और दुःख का स्थान समझो। जिस प्रकार सब ओषधियों का उत्पत्ति-स्थान पृथ्वी है, उसी प्रकार सारी विपत्तियों का उद्भव-स्थान जन्म है।

"आकाशयोनिः पवनो यथाहि
यथा शमीगर्भशयो हुताशः ;
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च
दुःखं तथा चित्तशरीरयोनि।"

अर्थात् आकाश जिस प्रकार पवन का उत्पत्ति-स्थान है, अग्नि जिस प्रकार शमी के गर्भ में अवस्थित है, जल जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर विद्यमान है, उसी प्रकार चित्त और शरीर ही इस दुःख का मूल है।

कवि ने हास्य, शृंगार, करुण और रौद्र-रस का वर्णन भी अपने ओजस्वी शब्दों में किया है, जिसके अवलोकन-मात्र से चित्त में रसानुसार विकार पैदा हो जाता है।

करुण-रस के वर्णन में कवि ने "अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" इस भवभूति की सूक्ति को सार्थक

कर दिया है। कौन ऐसा हृदय होगा, जो कवि के निम्न-लिखित श्लोक पढ़कर आँखों से अश्रुपात न करेगा—

"एषाम्यनाश्यानविशेषकायां
त्वयीति कृत्वा मयि त्वां प्रतिज्ञाम् ;
कस्मान्नु हेतोर्दयितः प्रतिज्ञः
सोऽद्य प्रियो मे वितथप्रतिज्ञः।"

"अर्थस्य साधोः करुणात्मकस्य
मन्नित्यभीरोरतिदक्षिणस्य ;
कुतो विकारोऽयमभूतपूर्वः
स्वेनापरागेण मयापचारात्।"

अश्वघोष ने अनेक ग्रंथों की रचना की है। कुछ ग्रंथ तो इन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से बनाए हैं, और कुछ काव्य-रचना के अभिप्राय से।

कवि के दार्शनिक ग्रंथ लुप्तप्राय हो गए हैं। जो हैं, वे भी शोचनीय अवस्था में हैं। ऐसा कवि, जिसने अपने कविता-कलाप से संसार को मुग्ध कर लिया है, आज तक विस्मृति के गर्त में पड़ा हुआ है। यह कितने खेद की बात है!

रामदीन पांडेय

ओम् नमोबुद्धाय

सौंदरनंद महाकाव्य

(कथासार)

प्रथम सर्ग

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ गोतमवंशोद्भव कपिल ऋषि कक्षीवान् गोतम के सदृश नगराज हिमालय के पार्श्व में घोर तपस्या कर रहे थे। इनके तप के प्रभाव से वह भूभाग समृद्धि-परिपूर्ण था। वहाँ शांति का अटल साम्राज्य था। प्रकृति-देवी का सौंदर्य चित्ताकर्षक था। सरोवरों में सरोरुह विकसित थे। वनराजि फल-पुष्पों से सुसज्जित थी। पक्षियों का कलरव, मृगों का आस्फालन तथा अन्य वन्य जंतुओं की स्वतंत्रता चित्त को मुग्ध कर लेती थी। हरिण तपस्वियों की पवित्र वेदियों पर सुख की निद्रा का अनुभव कर रहे थे। ऋषि के माहात्म्य से भय भी भय खाता था। सारी वन्य सृष्टि सुख-चैन की वंशी बजाती थी। अन्य मुनिगण भी वहाँ पर शरीर की निरपेक्षा कर, धर्म से बुद्धि को संयुक्त कर अधर्म के निर्वासन के लिये तपस्या में संलग्न थे।

इस तेजस्वी महात्मा कपिल के आश्रम पर कतिपय इक्ष्वाकु-वंशीय राजपुत्र निवास करने की इच्छा से गए। इनके शरीर सुवर्णस्तंभ के सदृश देदीप्यमान और वक्षःस्थल विस्तृत थे। ये दीर्घबाहु थे। ये विनय, लक्ष्मी तथा महत्त्व के पात्र थे। इन महात्माओं को इनके पिता ने अपनी स्त्री के अनुरोध से निर्वासित कर दिया था। अतः इन्हें पिता के वचन की रक्षा के लिये अरण्य का आश्रय लेना पड़ा। ऋषि कपिल इनके उपाध्याय हुए और गुरु के गोत्र से ये गौतम हुए। इसके पूर्व ये कौत्स थे।

इन राजपुत्रों ने शाक-वृक्षों से आच्छादित स्थान पर अपना आवास निर्मित किया, अतः ये शाक्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार कण्व ने तपस्वी शाकुंतल भरत का संस्कार किया, जिस प्रकार धीमान् वाल्मीकि ने मैथिलेय लव-कुश का संस्कार किया, उसी प्रकार मुनिपुंगव कपिल ने इन इक्ष्वाकु-वंशी क्षत्रियों के सारे संस्कार किए।

एक दिन महात्मा कपिल इन राजपुत्रों की वृद्धि करने की भावना से हाथ में जल का कलश ले बोले—"पुत्रो! इस अक्षय्य सलिल-कलश से जल की धारा पृथ्वी पर गिरेगी। उस धारा का अतिक्रमण कर मेरा अनुसरण करो।" वे राजकुमार ऋषि को प्रणाम कर द्रुतगामी घोड़े से सुसज्जित रथ पर आरूढ़

हुए। रथस्थित राजकुमारों ने गगनचारी ऋषि का अनुसरण आश्रम के चारों ओर किया। तत्पश्चात् मुनि ने उन राजकुमारों को उस जल से चिह्नित स्थान पर नगर बसाने की आज्ञा दी।

जब कपिल मुनि स्वर्गलोक चले गए, तब वे वीर राजकुमार यौवन के मद से निरंकुश गज के सदृश उद्धत हो गए। इनकी क्रूरता देखकर तपस्वी लोग उस वन को छोड़कर अन्यत्र चले गए। ऋषियों से रिक्त आश्रम को देखकर उन राजकुमारों को महती ग्लानि हुई। चिंताग्रस्त राजकुमार रात-दिन जंगल में जब पर्यटन कर रहे थे, तब संयोग से प्रचुर धन उनके हाथ लग गया। उस धन से उन्होंने ऋषि कपिल के आवास पर एक संपन्न नगर बसाया। इस नगर को पुष्करिणी, प्राकार, राजपथ, वीथि तथा कृत्रिम शैलों से अलंकृत कर दिया। यह नगर इंद्र की अमरावती, कृष्ण की द्वारावती तथा जरासंध के राजगिरि नगर का सामना करनेवाला था। इसकी शुभ्र अट्टालिकाएँ तथा सुविभक्त पण्यवीथिकाएँ मन का हरण करनेवाली थीं। वेद-वेदांग में परिश्रम किए हुए षट्कर्मी ब्राह्मण लोग भी इन राजकुमारों की समृद्धि सुन आ गए। ये राजकुमार अपनी प्रजाओं से कर नहीं लेते थे। अतः यह नगर जन-संख्या में द्वितीय लंडन हो गया।

स्थान-स्थान पर सभा, कूप तथा उद्यान दृष्टिगोचर होते थे।

हाथी, घोड़े, रथ आदि से समन्वित यह नगर तेज का आधान, अर्थों का सन्निधान, विद्याओं का निकेत, संप्रदायों का संकेत, गुणियों का वासवृत्त, धनुर्धारियों का आश्रय तथा बाहु-शालियों का आलान था। यह नगर कपिलवास्तु के नाम से प्रसिद्ध हुआ; क्योंकि ऋषि के वास्तु (आवास) पर राज-कुमारों ने इसे संस्थापित किया।

यद्यपि इस नगर का वैभव वर्णनातीत था, तथापि इसमें एक बात का परम अभाव था। वह अभाव राजा का न होना था। राजकुमारों के रहते हुए राजा के विना वह नगर इस प्रकार शोभा नहीं पाता था, जिस प्रकार सहस्रों तारों के रहते हुए भी चंद्र के विना अंतरिक्ष निष्प्रभ प्रतीत होता है। अतएव राजकुमारों ने प्रजा की सम्मति से अपने ज्येष्ठ भ्राता को राज्य-श्री से विभूषित किया। यह राजकुमार *"वाक्-शक्ति में बृहस्पति, सभा में बुद्ध, यश में अर्जुन, धनुर्विद्या में भीष्म तथा समर में शत्रुघ्न था।" राजा, †आर्य अश्वघोष के

* यह बाणोक्ति है।—लेखक

† आचारवान् विनयवान् नयवान् क्रियावान्
धर्माय नेन्द्रियसुखाय धृतातपत्रः;
तद्भ्रातृभिः परिवृतः स जुगोप राष्ट्रं
संक्रन्दनो दिवमिवानुसृतो मरुद्भिः।
(अश्वघोष)

शब्दों में, आचारवान्, विनयवान्, नयवान् तथा क्रियावान् था। इसने राजपद इंद्रिय-सुख के लिये नहीं ग्रहण किया था, प्रत्युत धर्म के लिये। जिस प्रकार देवतों से अनुसृत इंद्र स्वर्ग-लोक पर शासन करते हैं, उसी प्रकार भाइयों से परिवृत शाक्य-नरेश ने कपिलवास्तु पर राज्य किया।

द्वितीय सर्ग

इस शाक्यवंश में कालक्रम से शुद्धोदन नाम का शुद्धकर्मा जितेंद्रिय राजा हुआ। यह सत्यसंपन्न, श्रुति-स्मृति का ज्ञाता, बुद्धिमान्, धीर तथा बड़ा नीतिज्ञ था, और पूर्वजों से अनुसृत धर्म-पद्धति का अनुसरण करता था। इसके सुव्यवहार तथा शांतिपूर्ण शासन के कारण प्रजा सुख की नींद सोती थी। यह राजा आर्तों का दुःख दूर करता था, शत्रुओं के उपार्जित यश को कलंकित करता था, नीति के द्वारा पृथ्वी को प्रेयसी बनाए हुए था। कोई भी इस राजा के राज्य में दुःखी न था। अपनी शरण आए हुए शत्रु को यह गले से लगा लेता था। पराभूत शत्रु भी इसकी सौम्य मूर्ति को देखकर तथा दिग्व्या-पिनी कीर्ति को सुनकर ग्लानि को मानस-मंदिर में स्थान तो देते ही न थे, प्रत्युत अपने को कृतकृत्य समझते थे। इस

शाक्य राजा का वैभव शक्र की शान को भी चूर्ण करनेवाला था।

जिस समय ऐसा धर्मनिष्ठ, पराक्रमी राजा कपिलवास्तु पर शासन कर रहा था, देवगण संसार में धर्मचर्या देखने की इच्छा से इतस्ततः पर्यटन कर रहे थे। इन धर्मात्मा देवों ने जगत् में, विशेष कर, राजा शुद्धोदन को धर्मध्वजधारी पाया। अतः जीर्ण जगत् के क्लेशों का विनाश चाहनेवाले, इस असार संसार में अवतीर्ण होते हुए बोधिसत्व को, देवतों ने इसी महत्त्वपूर्ण वंश में जन्म ग्रहण करने के लिये सम्मति दी।

दूसरे दिन रात्रि के समय राजा शुद्धोदन की धर्मपत्नी माया जब निद्रा-देवी की गोद में कल्लोल कर रही थी, उसी समय उसने स्वप्न में देखा कि षड्दंत श्वेत हस्ती उसके गर्भ में प्रवेश कर रहा है। स्वप्नावस्था में हस्ती को गर्भ में प्रविष्ट होते देख माया भय से व्याकुल होकर जग पड़ी और सारा स्वप्न-समाचार अपने पतिदेव को कह सुनाया। स्वप्नों के रहस्य जाननेवाले ब्राह्मण बुलाए गए। इन स्वप्नज्ञ ब्राह्मणों ने स्वप्न की व्यवस्था सुनकर कहा कि भगवती मायादेवी की कोख से लक्ष्मी, धर्म तथा यश का धारण करनेवाला कुमार उत्पन्न होगा।

जन्म का विनाश चाहनेवाले बोधिसत्व की उत्पत्ति जिस

समय हुई, ॐ उसी समय पर्वत-सहित वसुंधरा प्रकंपित हो उठी, सूर्य की रश्मि से अक्लिष्ट पुष्प-वृष्टि आकाश से होने लगी। गगन में दंदुभी बजने लगी। सूर्य बड़े जोरों से देदीप्यमान होने लगा। शीतल, मंद, सुगंध, मंगलकारी हवा बहने लगी। इस घटना से देवतों को अतुल आनंद प्राप्त हुआ।

ठीक इसी समय राजा शुद्धोदन की द्वितीय पत्नी से नंद-नामक पुत्र का प्रादुर्भाव हुआ। नंद के बाहु विशाल थे। और वक्षःस्थल चौड़ा। कंधे सिंह के सदृश उन्नत थे। वृषभ के नेत्रों के सदृश इनके नेत्र आयताकार थे। मधुमास के नवोदित चंद्रमा के सदृश, मूर्तिमान् मन्मथ के सदृश, नंद के शरीर की कांति थी। सुंदर शरीर होने के कारण सब इन्हें सुंदर भी कहने लगे।

ये दोनों राजकुमार एक साथ विद्या, कला तथा अन्य राजकीय विषयों का अध्ययन करते थे। इनके आराम का पूर्ण प्रबंध था। संसार की सारी भव्य वस्तुएँ इनकी आँखों के सामने उपस्थित की गई थीं। दुःखद विषयों की चर्चा न होती थी,

---

ॐ तस्य सत्वविशेषस्य जातौ जातिक्षयैषिणः।
साचला प्रचचालोर्वी तरंगभिहतेव नौः॥ (व)
सूर्यरश्मिभिरक्लिष्टं पुष्पवर्ष [ः] पपात खात्।
दिग्वारणकराधूतात् वनाच्चैत्ररथादिव॥
दिवि दुंदुभयो नेदुः दीव्यतां मरुतामिव।
दिदीपेत्याधिकं सूर्यः शिवश्च पवनो ववौ॥

इस प्रबंध के रहते हुए भी सिद्धार्थ का चित्त पार्थिव वस्तुओं से सदा पृथक् रहता था। नंद का मन विषय-वासनाओं में अवलिप्त रहता था।

सिद्धार्थ वृद्ध, आतुर और मृत व्यक्तियों को देखकर प्रगाढ़ चिंता में पड़ गया। उनकी विपदाओं के निवारण के सामान उसके सामने कुछ नहीं देख पड़ते थे। वह सोचने लगा, किस उपाय का अवलंबन किया जाय, जो देही को जन्म तथा मरण-रूपी व्याधियों से निर्मुक्त कर दे। इस उद्वेग से क्षुब्ध हो वह अपने मन को जन्म से निर्मुक्ति की भावना में लगाकर, अर्द्धरात्रि के समय जगत् के उद्धार के लिये राजभवन से निकल पड़ा।

तृतीय सर्ग

सर्वार्थसिद्ध संपन्न कपिलवास्तु को छोड़कर, श्रीमान्, निर्भीक तथा अनुरक्त परिजनों का त्याग कर, पार्थिव सुखों पर लात मारकर वन को चला गया। सबसे पहले वह मोक्षवादी अंड के समीप गया। तत्पश्चात् शमवादी उद्रक की सेवा में कुछ समय तक रहा। पर जिस प्रश्न को वह हल करना चाहता था, जिस तत्त्व का अनुसंधान कर रहा था, जिस साधन की प्राप्ति के लिये उद्विग्न था, जिस पथ पर आरूढ़

होने के लिये लालायित था, उनमें से एक भी दृष्टिगोचर न हुआ। तब उसने घोर तपस्या की। परंतु तप से भी तत्त्वान्वेषण की पिपासा शांत न हुई। इसलिये इस मार्ग को भी उसने छोड़ दिया।

वह महात्मा अब निराश हो सत्त-वृत्त की छाया में जाकर बैठा। उसने प्रतिज्ञा की कि विना तत्त्वान्वेषण किए मेरा शरीर इस स्थान से पुनः न उठेगा। ऐसा भीषण प्रण कर वह ध्यानावस्थित हो गया। मार की प्रबल सेना उपद्रव मचाने लगी।

इस महात्मा को कर्तव्य-पथ से च्युत करने की कोटिशः चेष्टाएँ उसने कीं, पर सारी-की-सारी निष्फल हुईं। योगिराज सिद्धार्थ जिस पथ की खोज में अपने प्राणों को भी विसर्जित करने के लिये प्रस्तुत था, वही उसकी आँखों के सामने आ गया। ज्ञान की ज्योति छटा दिखाने लगी। सूक्ष्मतः उसने अविनाशी, मंगलकारी तथा अहार्य तत्त्व को प्राप्त कर लिया।

अब वह जन्म-मरण का भेषज प्राप्त कर वाराणसी को आया। यहाँ आकर इस ऋषि ने मानव-समिति में, भदंत के शब्दों में,

"अथधर्मचक्रमृतनाभिधृतिमतिसमाधिनेमिमत्,
तत्र विनयनियमारमृषिर्जगतो हिताय परिषधवर्त्तयत् ॥"

जगत् के कल्याण के लिये धर्म का वह चक्र (Wheel of Law) चलाया, जिसकी नाभि सत्य, नेमि, धृति, मति तथा समाधि हैं, और जिसके आर विनय तथा नियम हैं।

वह ऋषि क्रोध, मद, भय की तरंगों से क्षुब्ध संसार-सागर को, इसी धर्म के चक्र पर आरूढ़ होकर, स्वयं पार हो गया और औरों को भी इसी के द्वारा पार उतार दिया। पुनः जब तक मानव-सृष्टि रहेगी, तब तक सारा संसार-सागर तरने का एक-मात्र उपाय यह धर्म-चक्र है।

काशी, गया तथा गिरि-व्रज में शिक्षा प्रदान कर वह कपिलवास्तु को गया, जहाँ उनके वृद्ध पिता शोक से विह्वल हो रहे थे। सिद्धार्थ—नहीं-नहीं, महात्मा बुद्ध का प्रत्यागमन सुनकर पिता अधीर होकर अपने परिजनों के साथ दौड़े। सुगत ने उन लोगों को आते देखकर, उपदेश करने की इच्छा से, आकाश में उठकर अपना प्रभाव दिखाया।

सुगत के कांतिपूर्ण मुख तथा तेजस्वी शरीर का अवलोकन कर सब-के-सब उनके चरणों पर गिर पड़े।

महात्मा बुद्ध ने, समय को अनुकूल पाकर, अपने वृद्ध पिता को जरा-मृत्यु का वह भेषज पिलाया, जिसे पीकर प्राणी जन्म का क्लेश पुनः अनुभव नहीं करता। तदनंतर अन्य परिजन भी बुद्ध के अनुयायी हो गए। कितने तो घर-द्वार छोड़, भिक्षुक होकर इतस्ततः भ्रमण करने लगे; और जो कोई घर पर रह गए, वे भी नियम तथा विधि के साथ जीवन व्यतीत करने लगे।

चतुर्थ सर्ग

भगवान् बुद्ध कपिलवास्तु-नगर में धर्मोपदेश कर रहे थे। सारा नगर उनकी धर्म-शिक्षा का प्याला पी रहा था। पर उस शहर में केवल एक व्यक्ति था, जो अपनी सहधर्मिणी के साथ विषय-वासनाओं में अवलिप्त था। वह था सुगत का कनिष्ठ भ्राता नंद। नंद तथा उसकी स्त्री दांपत्य-प्रेम के आदर्श थे। नंद यदि चक्रवाक था, तो उसकी पत्नी सुंदरी चक्रवाकी थी। नंद यदि कंदर्प था, तो सुंदरी रति थी। दोनों अनवरत एक साथ रहते थे। एक दूसरे के विना वे कैसे प्रतीत होते थे, जैसा चंद्रमा के विना रात्रि और रात्रि के विना चंद्रमा। इनकी प्रसन्नता का मूल आधार अन्योन्यावलोकन था।

एक दिन सुंदरी ने नंद के हाथ में दर्पण देकर अनुरोध किया—"नाथ, इसे आप धारण करें; मैं अपने गात्र को विभूषित करती हूँ।" वह प्राणवल्लभ की दाढ़ी की ओर दृष्टि-पात कर कपोलों को श्मश्रु से रंजित करने लगी। नंद ने विनोद-पूर्वक दर्पण को निश्वासवायु से आर्द्र कर दिया। सुंदरी घबरा गई। दोनों में कुछ क्षण के लिये अनबन हो गई। पुनः विशेषक * प्रारंभ हुआ। जिस समय यह घटना राजमहल

* विशेषक—रंगने का कार्य (Painting)

के भीतर संघटित हो रही थी, उसी समय भगवान् बुद्ध भिक्षार्थ नंद के द्वार पर आए। सेवकों ने इन्हें साधारण भिक्षुक समझ कुछ ध्यान न दिया। शुष्कहस्त आप नंद के प्रासाद से लौट गए। बुद्ध को लौटते किसी चेरी ने देखा। उसने साहस कर नंद से निवेदन किया कि भगवान् सुगत द्वार पर भिक्षार्थ आए थे। पर प्रेष्य जन के प्रमाद से भिक्षा विना पाए लौट गए।

जिस समय दासी ने यह सूचना दी, उस समय सुंदरी का विभूषण-कार्य शेष हो चुका था। नंद यह संवाद सुन पानी-पानी हो गया। वह वायु से प्रकंपित कल्पद्रुम की भाँति क्षुब्ध हो गया। उसने अपनी प्रेयसी से गुरु के देखने की इच्छा प्रकट की। सुंदरी ने नंद के धर्म में बाधा डालना उचित नहीं समझा, पर उनसे साग्रह अनुरोध किया कि वे रंग सूख जाने के पूर्व ही सुगत के पास से लौट आवें।

प्राणवल्लभा का आदेश पाकर नंद बुद्ध के पास चला। पाँव तो आगे उठते थे, पर दृष्टि रह-रहकर पीछे ही पड़ती थी। एक क़दम आगे चलता था कि गवाक्षगत सुंदरी को नेत्रों से वेधित करता था। एक ओर तो बुद्ध का गौरव था, और दूसरी ओर भार्यानुराग। इन दोनों वेगों से समाकृष्ट नंद कभी-कभी निश्चल हो जाता था। मार-शक्ति उसे गिरफ़्तार करना

चाहती थी। पर धर्मानुराग भी उसे खींच रहा था। जो गति प्रबल धारा के विरुद्ध चलनेवाली नाव की होती है, वही गति इस समय नंद की थी।

नंद जब कुछ दूर गया, तो सुगत को उसने नागरिकों से परिवेष्टित पाया। ख़ासी भीड़ थी। सुगत के समीप समावेश पाना दुराशा-मात्र था।

पंचम सर्ग

शाक्यवंशी क्षत्रिय घोड़े, रथ तथा हाथी से उतरकर महामुनि को प्रणाम कर रहे थे। बड़े-बड़े वणिक्, व्यवहारी तथा अन्य नागरिक आदि जानपद भक्तिवश इस कारुणिक के चरणों पर अपना मस्तिष्क अवनमित कर रहे थे। कितने तो लौटे जा रहे थे, और कितने हाथ जोड़े निर्निमेष नेत्रों से ऋषि की सौम्य मूर्ति का दर्शन कर रहे थे। जिस मार्ग से नंद सुगत के पास पहुँचना चाहता था, उसी रास्ते से भक्तों का प्रवाह उमड़ा आ रहा था। इस कारण वह अभिप्रेत को पूर्ण नहीं कर सकता था।

देर हो चली। पत्नी का आदेश सामने था। गुरु की अभ्यर्चना असमाप्त थी। पहले ने दूसरे को दबा दिया। राजभवन

की ओर प्रस्थान करने की इच्छा प्रबल हो उठी। पर था वह क्षत्रिय। जिस कार्य के लिये आया था, उसे विना संपादित किए लौटना भी नहीं चाहता था। "भइ गति साँप छछूँदर केरी" इसी कहावत को कुछ समय तक वह चरितार्थ करता रहा। घंटों के अनंतर भीड़ कुछ कम हुई। नंद सुगत के पास पहुँचा। उनके चरणों पर माथा रख उसने क्षमा चाही और सुगत से आतिथ्य-स्वीकार करने के लिये अभ्यर्थना की। सुगत के भाव से जान पड़ा कि उसकी आवश्यकता नहीं रही। घर लौट जाने के विचार नंद के मानस-मंदिर में आविर्भूत हुए। भगवान् इस भाव को ताड़ गए। झट भिक्षापात्र नंद के हाथ में देकर धर्मोपदेश के कार्य में लग गए। पात्र हाथ में लेकर भी वह उसी के साथ महल को लौटा चाहता था। शिक्षा का कार्य शेष हो गया। कारुणिक नंद को विहार में ले गए। उसे दुःखित तथा चिंतित देखकर सुगत अपने कर-कमलों से उसके मस्तक को स्पर्श कर बोले—"सौम्य! तेरी यह कैसी अवस्था? तू अधीर क्यों हो रहा है? चेतो! हिंस्रकाल के पहुँचने के पूर्व शांति में बुद्धि करो। मृत्यु ध्रुव है। कैसी ही अवस्था में वर्तमान मनुष्य क्यों न हो, मृत्यु अवश्य उसे मार डालती है। जिस संसार के सुख के पीछे तू हैरान हो रहा है, वह स्वप्नवत् है—असार है। इस संसार से अपने चंचल मन को हटाओ। पवन से

प्रेरित अग्नि की तृप्ति हव्यों के द्वारा नहीं हो सकती। देही की संतुष्टि काम द्वारा दुराशा-मात्र है। जरा के सदृश कोई दूसरी व्याधि नहीं। प्रेम के सदृश कोई दूसरा बंधन नहीं। तृष्णा के सदृश कोई दूसरी वेगवती धारा नहीं। प्रिय भाई! ज़रा सोचो तो सही। इनसे तेरा छुटकारा कैसे हो सकता है? इन अनर्थों से निस्तार पाने का एक-मात्र साधन योग का अनुसरण और तत्त्व का ग्रहण है। हाथ में औषधि लिए हुए वैद्य को सर्प नहीं डसता। मोह तथा सांसारिक विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त किए हुए जंतु को शोक नहीं सताता।"

बुद्ध भगवान् नंद को ऐसी शिक्षा दे अन्यत्र चले गए, और वैदेह मुनि को उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये आदेश प्रदान किया।

वैदेह मुनि से संसार-त्याग के विषय में उपदेश सुनकर नंद ने कहा—"महाराज! आप अपनी शिक्षा-दीक्षा रहने दीजिए। मैं परिव्राजक नहीं होना चाहता। आपका जीवन दुःखद है। आपका मार्ग क्लेश-कंटकाकीर्ण है। मैं संसार की आभा को नहीं भूल सकता।" नंद का ऐसा निश्चयात्मक विचार सुनकर वैदेह मुनि अवाक् रह गए। उन्होंने बुद्ध को नंद की प्रतिज्ञा कह सुनाई।

महाकारुणिक बुद्ध पुनः नंद के पास आकर करुण शब्दों में बोले—"वत्स नंद! मैं तुम्हारा जेठा भाई हूँ। मैं संसार

को छोड़ चुका हूँ। तेरे अन्य जाति वर्गों ने भी संसार को छोड़ दिया है। बड़े-बड़े राजर्षि इस धोखे की टट्टी-स्वरूप संसार के सुख, ऐश्वर्य को लात मार अरण्य का आश्रय ले रहे हैं। पर मैं नहीं समझता कि इस नश्वर संसार ने तेरे ऊपर कैसा जादू चलाया है कि तू इसके पंजे से निकलने में असमर्थ हो रहा है। चारों ओर से जलते हुए घर में जो मनुष्य सोता है, वह उन्मत्त नहीं, तो और क्या है। व्याधि, जरा तथा कालरूपी अग्नि से प्रज्वलित संसार से जो प्रेम रखता है, उससे बढ़कर कोई दूसरा अविवेकी नहीं है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो अनश्वर हो। इसे अनित्य ही समझकर बड़े-बड़े सार्वभौमों ने इसका त्याग किया है। अस्तु, इसे इंद्रजाल समझ इस ओर से मुख मोड़ लो। मेरे इस उपदेश को तुम वैद्य की कटु औषधि समझो। कटु औषधि रोगी को कालांतर में स्वास्थ्य प्रदान करती है। मेरी शिक्षा तुझे भविष्य में शाश्वत शांति प्रदान करेगी।"

जब भगवान् ने इस प्रकार नंद को समझाया, तब वह हाथ जोड़कर बोला—"गुरुदेव! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" तत्क्षण वैदेह मुनि आए, और सुगत के आदेश से नंद का मुंडन कराकर उन्होंने उसे बौद्धधर्म में दीक्षित किया।

षष्ठ सर्ग

घंटों बीत गए, पर नंद राजभवन को न लौटा। सुंदरी पति के वियोग से विह्वल हो उठी। वह प्रासाद, जो कुछ घंटे पहले आनंद का आवास था, विषय-वासनाओं का आगार था, और इंद्र की अमरावती की शान को चूर कर रहा था, नंद के विना सुंदरी को निष्प्रभ प्रतीत होने लगा। वह कभी वातायन के पास जाती, कभी द्वार पर खड़ी होती, और कभी चिंता में निमग्न हो पतिदेव के अनिष्टागमन का स्वप्न देखती थी। बहुत देर से खड़ी होने के कारण वह सहसा गिर पड़ी। उसका हार विकीर्ण हो गया। गिरने की आवाज़ सुन एक दासी उस ओर दौड़ी। दासी के पैर की आवाज़ सुनकर सुंदरी ने समझा कि नंद आ रहा है। वह हर्ष के साथ उठ पड़ी। पर शब्द ने धोखा दिया। नेत्र का अतिथि न मिला, हृदय का आश्वासन दृष्टि-गोचर न हुआ। वह पुनः उस चेरी को देखकर दीर्घ श्वास ले पृथ्वी पर गिर पड़ी। पुनः उठकर मुखचंद्र को हस्तलता पर रख शोक-जल से परिपूरित चिंता-नदी में तैरने लगी।

स्त्रियाँ स्वभावतः कोमल-प्रकृति होती हैं। स्नेह वास्तव में पाप-शंकी होता है। अतः वह विलाप करने लगी—

"प्रभो! आपने प्रतिज्ञा की थी कि विशेषक सूखने के पूर्व मैं लौटूँगा, सो किस कारण न आए? आप तो सत्यप्रतिज्ञ थे, क्यों वितथप्रतिज्ञ हो गए? प्रतिज्ञा की पूर्ति तो शाक्य-नरेशों को प्रिय है। आप तो करुणात्मक तथा दक्षिण नायक थे। मुझसे सदा डरते थे। अतः ऐसा अभूतपूर्व विकार क्यों हुआ? इसका कारण मेरा अपचार है अथवा आपका अपराग। सचमुच में आपका रतिप्रिय हृदय विरक्त हो गया है, अन्यथा यदि वैसा ही प्रेम आपका मेरे प्रति रहता, तो मेरे चित्त के रक्षक, आप अब तक क्यों न आ जाते? मुझे तो मालूम हो रहा है कि रूप तथा भाव से समन्वित किसी अन्य नायिका को आपने देखा है। अतः मुझसे निष्फल प्रतिज्ञा कर, मुझ सती को छोड़कर आप चले गए। यदि भगवान् बुद्ध से आपने भक्ति माँगी है, तो मेरा अनुरोध है कि आप वहाँ से चल दें।" इस प्रकार का विलाप वह मुग्धा कर ही रही थी कि एक आवाज़ सुन पड़ी। आवाज़ ने कहा—"नंद को सुगत ने प्रव्राजित कर लिया।"

पतिदेव की ऐसी प्रवृत्ति सुन काँपती हुई वह गिर पड़ी। उसकी चेतना जाती रही। शोक का वेग कम होने पर भुजा पकड़ तार-स्वर से वह रोदन करने लगी। दग्ध-हृदय हस्तिनी की भाँति वह छटपटाने लगी। पति के गुणों को स्मरण करती हुई दीर्घ

श्वास लेने लगी। आभूषणों को शरीर से उतारकर चारों ओर फेकने लगी। विभूषण से विहीन वह सुंदरी उस लता के सदृश देख पड़ने लगी, जिसके पुष्प चारों ओर गिर पड़े हों। इस दर्पण को प्रिय ने हाथ में लिया था—यह सोचकर उसे वह छाती से लगा लेती है। इस शय्यापर प्रिय सोते थे—ऐसा कह वैदूर्यमणि से मंडित शयन पर लेटती है। पर शांति कहाँ? रोती है, सिर पीटती है, चिल्लाती है। स्तब्ध हो एक-दो क़दम चलती है, खड़ी हो जाती है, क्रोध के आवेग में आ होठों को काटती है, वस्त्रों को फाड़े डालती है।

ज़ोर से रोती हुई सुंदरी की आवाज़ सुनकर राजभवन की स्त्रियाँ दौड़ पड़ीं। सुंदरी को उन्होंने घेर लिया। उनमें एक, जो वय तथा बुद्धि में सबसे बढ़ी-चढ़ी थी, सुंदरी को छाती से लगा और आँसुओं को पोछकर बोली—"बहन! तुम राजर्षि की धर्मपत्नी हो। अतः धर्माश्रित पति के लिये ऐसा शोक प्रकट करना अनुपयुक्त है। तुम विदुषी हो; इस बात को जानती हो कि इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियों के लिये तपोवन शांतिनिकेतन है। मोक्ष के हेतु वानप्रस्थाश्रमसेवी शाक्यों की स्त्रियों के लिये घर ही तपोवन है और * साध्वीव्रत ही तपस्या। अतएव रोना बंद करो। तुम तो मनस्विनी, रूपवती तथा गुणशालिनी हो। हृदय

*सती का व्रत।

को ज्ञात होने पर अश्रु-मोचन कैसा ! तुम्हारे पति ने तो उत्तम कार्य में अपना मन लगाया है। उनके लिये इस भाँति से अश्रु प्रवाहित करना सर्वथा अनुचित है। जिसने सुख तथा ऐश्वर्य का भोग कर स्वस्थ-शरीर से धर्म का आश्रय लिया हो, ऐसे रतिनाथ* के लिये व्याकुल होना अयोग्य है, यह तुम्हारे लिये हर्ष का समय है। वह सती धन्य है, जिसका पति वीत-स्पृह हो।" ऐसा सारगर्भित उपदेश श्रवण करके भी प्रेम के कारण सुंदरी को धीरज न हुआ। इसके शोक का प्राबल्य देख दूसरी स्त्री प्रणयवश समयानुकूल बोली—"सखी ! मैं सत्य कहती हूँ, बहुत शीघ्र ही तेरा पति तुझे मिलेगा। तुम्हारे विना वह वहाँ नहीं ठहर सकते। चेतना से हीन व्यक्ति सत्य का आश्रय नहीं ले सकता। लक्ष्मी की गोद में भी नंद को शांति नहीं मिल सकती, जब तक तुम उनके पास न हो। भयंकर विपत्ति में भी उन्हें दुःख नहीं मालूम हो सकते, यदि वह तुम्हें देखते रहें। तुम शांति धारण करो। वाष्पों को रोको। तप्त-अश्रु से आँखों की रक्षा करो। उनका जैसा प्रेम तुम पर है, उनका जैसा भाव तुम्हारे प्रति है, उससे प्रकट है कि वह तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकते। धर्म में कदापि उनका मन नहीं लग सकता।" जब युवतियों ने सुंदरी को इस प्रकार सांत्वना दी, तब कहीं उसे कुछ धैर्य हुआ।

* पति।

सप्तम सर्ग

नंद गात्र से परिव्राजक का चिह्न धारण कर रहा था, मन से नहीं। स्त्रीगत मन के वितर्कों से ह्रीयमान नंद को आनंद न मिला। वसंत-ऋतु की चढ़ाई थी। वृक्ष पुष्पों तथा नूतन किसलयों से सुसज्जित हो रहे थे। पुष्पकेतु की इन सेनाओं से परिवेष्टित होने पर विहारस्थित नंद को शांति न मिली। षट्पदों से आलीन सहकार की वीथियों में परिभ्रमण करता हुआ नंद दीन ही बना रहा। दीर्घबाहु नंद प्रियतमा का स्मरण कर जम्हाई लेने लगा। शोक का हरण करनेवाला अशोक नंद के शोक का प्रवर्द्धक हुआ। पुष्पों तथा किसलयों से अवनमित प्रियंगुलता में अश्रुमुखी सुंदरी देख पड़ने लगी। आम्र-वृक्ष का आलिंगन करती हुई विकसित माधवी लता को देखकर प्रियाविहीन नंद ने अपने को धिक्कारा। सुगंध को वमन करती हुई वसंती वायु शोकितात्मा नंद के घ्राण को तृप्त न कर सकी। प्रसन्नचेता कोकिल का मधुर स्वर और मधुलोलुप भ्रमर का निनाद नंद के कर्ण-कुहरों को कर्कश प्रतीत हुआ। भार्यागत वितर्क ने कामाग्नि द्वारा उसके हृदय को प्रक्षुब्ध कर दिया। उसका धैर्य जाता रहा। वह विलाप करने लगा। उसके क्रंदन में भी तर्क था।

वह अपने को समझाने लगा—क्या प्रेम का पाश ढीला है? नहीं—यह तो दृढ़ है। यह काठ, चमड़े तथा लोहे के बंधन से भी दृढ़ है। इसे तोड़ना क्या सरल है—नहीं—कठिन है। जिसने इस कठिन बंधन को तोड़, रोती हुई स्त्री को छोड़ तपस्या की है, उसने अवश्य दुष्कर कर्म किया है। अथवा जो ऐसा करते हैं और करेंगे, वे भी असाध्य का संपादन करते हैं। जो संसार छोड़ते हैं, वे किस साधन द्वारा ऐसा करते हैं? उत्तर मिलता है—स्वपौरुष, हृदय अथवा ज्ञान। मुझे तो ज्ञान प्राप्त नहीं। तब मेरे लिये शांति कहाँ? मैं तो करुणात्मक नहीं, प्रत्युत कामात्मक हूँ। मुझमें और बुद्ध में आकाश-पाताल का अंतर है। भिक्षु का वेश गुरु के लिये शांतिप्रद है, पर मेरे लिये अशांति का मूल। इस वेश को अपनाने पर भी प्रियावियोग संतप्त कर रहा है।

अभी तक मेरे हृदय में वही विशेषक-अभिनय वर्तमान है। अभी तक मुग्धा का कृत्रिम क्रोध, विनोदपूर्ण हास्य मेरे सामने मौजूद हैं। कोकिल का नाद सुनकर तथा वसंत की शोभा का निरीक्षण कर मेरा चित्त नंद-हर्म्य में है। बुद्ध! तुझे नमस्कार! शांतात्मन्! निरुत्सुक भगवन्! आपको प्रणाम है।

पद्मसहित जल को देखकर तथा भ्रमरों से सेवित उपवन पर दृष्टिपात कर कोई भी सहृदय युवक तरुणी की उपेक्षा नहीं कर

सकता। भाव, गर्व, कोप, सौंदर्य, स्मित, वचन तथा कटाक्ष-रूप स्त्रियों के शस्त्र को देवता, राजर्षि तथा मुनि जब नहीं रोक सके, तो मेरे सदृश व्यक्ति का क्या पूछना। कामाभिभूत हिरण्यरेता ने स्वाहा की सेवा की। मघवा ने अहल्या को अपनाया। इस कारण एक तो सत्त्व से हीन हुआ, और दूसरे को स्वर्ग छोड़ना पड़ा। मैं तो: स्त्री-निर्जित मनुष्य हूँ। मैंने सुना है, सूर्य को रंभा के प्रति प्रेम हुआ और इसी प्रेम के कारण उसका ध्वंस हुआ। अश्विनीकुमार इसी गड़बड़-गीता के परिणाम हैं। स्त्री के कारण ही वैवस्वान् और अग्नि का धैर्य जाता रहा। इन लोगों ने वर्षों इसी के लिये युद्ध किया। तब ऐसा संसार में कौन है, जो स्त्री के लिये विचलित न हो। साधुओं में श्रेष्ठ वशिष्ठ को कौन नहीं जानता। इन्हें भी अक्षमाला की सेवा करनी पड़ी। महात्मा पाराशर को सारा जगत् जानता है। वेद के विभाग करनेवाले द्वैपायन ऋषि इन्हीं की कृति का फल हैं। धर्मपरायण द्वैपायन का भी काशी में वेशवधु के साथ संपर्क हुआ। ब्रह्मपुत्र अंगिरा तथा सरस्वती की कथा को कौन नहीं जानता? नष्ट हुए वेद को फिर से कहनेवाले सारस्वत ऋषि इसी झमेले के परिणाम हैं।

शांत अरण्य में निवास करते हुए भी ऋष्यशृंग ने

नरदेव-कन्या शांता का समाचार सुनकर अपना धैर्य छोड़ दिया। जिन गाधिपुत्र विश्वामित्र ने राज्य का परित्याग कर ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त किया, और जो विषयों के परे थे, वही मन्मथ के चाप से आहत होकर शकुंतला के पिता हुए। जह्नु नृपति की भी ऐसी ही कथा है। पांडवों के पिता महात्मा पांडु ने महर्षि के शाप की कुछ परवा न की, और माद्री के पास चले गए।

ऐसे-ऐसे ऋषि, देवता, राजा तथा महात्मा स्त्री के वश हो गए, तब मुझ-सदृश बुद्धि तथा सार से हीन दुर्बल पुरुष यदि धर्मपत्नी के वियोग से विह्वल हो रहा है, तो क्या आश्चर्य है। अतः मैं राजभवन के लिये प्रस्थान करूँगा, और अपनी इच्छा पूर्ण करूँगा। अन्य वस्तुओं में आसक्त, चलेंद्रिय तथा धर्म से च्युत व्यक्ति को यह परिव्राजक-वेश शोभा नहीं देता। जिस पुरुष में धृति तथा शांति नहीं है, उसके लिये कमंडलु तथा काषाय-वस्त्र व्यर्थ हैं। जो केवल भिक्षा-पात्र धारण किए हुए है, पर गुण का पात्र नहीं, जो "मन न रँगायो, रँगायो जोगी कपड़ा" का प्रमाण है, वह न तो गृही है, और न भिक्षुक। अतः मैं इस देश का त्याग कर गृह-धर्म का आश्रय लेता हूँ। पुत्र-सहित शाल्वाधिप, अंबरीष, रामोंध्र तथा सांकृतिरंतिदेव आदि राजों ने बहुत

समय वल्कल पहनकर अंशुक धारण किया। इन लोगों ने कुटिल जटा को कटवाकर मुकुट पहना।

अतः जब मेरे गुरु महाराज यहाँ से भिक्षा के लिये बाहर निकलेंगे, तब मैं भी काषाय-वस्त्र को छोड़कर घर के लिये रफ़ूचक्कर हूँगा। जो मनचले तथा क्लिष्ट-बुद्धि हैं, उनके लिये यह पूज्य वेश इस लोक तथा परलोक के लिये हितकर नहीं।

अष्टम सर्ग

नंद के नेत्र अधीर हो रहे थे। वह घर जाने के लिये उत्सुक हो रहा था। इसी समय मैत्रेय नाम का एक श्रमण नंद के पास पहुँचा। नंद को उदास देखकर उसने पूछा—श्रमण नंद, तुम्हारा मुख अश्रु से परिस्रुत क्यों है? मुझे तो भ्रांति हो रही है। तुम हृदय में धीरज धरो, विकार का त्याग करो। वाष्प और शम एक साथ शोभा नहीं पाते। तुम्हारी वेदना क्या है? वेदनाएँ दो प्रकार की होती हैं—दैहिक तथा मानसिक। इनके शमन की चिकित्सा कोविदों ने दो प्रकार से बतलाई है। यदि तुम्हारा रोग शारीरिक हो, तो शीघ्र ही वैद्य से कहो; क्योंकि रोग के छिपाने से रोगी अनर्थ को प्राप्त होता है। पर यदि मानसिक पीड़ा तुझे व्यथित कर रही है, तो कृपया मुझसे

कहो। मैं इसकी औषधि बतलाऊँगा। रज, तम और सत्त्व-गुण के परीक्षक तथा इन व्याधियों के चिकित्सक अध्यात्मवेत्ता ही होते हैं। यदि गोपनीय बात न हो, तो मुझसे स्पष्ट रूप से कह डालो।

मैत्रेय के ऐसा कहने पर नंद ने श्रमण का हाथ पकड़ लिया, और इच्छा प्रकट करने के अभिप्राय से वह अरण्य के दूसरे भाग में चला गया। वहाँ पवित्र लताभवन के नीचे दोनों बैठ गए। मंद-मंद वायु से प्रेरित मृदु लतापल्लव इन दोनों को आलिंगन करने लगे। नंद ने मैत्रेय से निवेदन किया—"आर्य! आप करुणात्मा तथा हितैषी हैं। अतः आपसे गोपनीय बात प्रकट करने में कोई आपत्ति नहीं। संक्षेपतः मेरा वक्तव्य है कि स्त्री के विना धर्म में मेरा मन नहीं लग रहा है। वनवास मुझे काँटे-सा चुभ रहा है। घर लौटने का संकल्प मैंने कर लिया है। जैसे ऐश्वर्य के विना राजा की शोभा नहीं, वैसे ही धर्मपत्नी के विना नंद को शांति नहीं मिल सकती।"

परिव्राजक नंद की बात सुनकर मैत्रेय सोचने लगा—माया! तेरी कैसी प्रबलता है। तृष्णा! तू कैसी बलीयसी है। व्याध के डर से इधर-उधर भागता हुआ मृग पुनः व्याध के ही गीत द्वारा प्रलुब्ध होकर उसके जाल में जा फसता है। जाल में फसे हुए विहंग को यदि कोई उपकारी जीव जाल से निर्मुक्त कर

देता है, तो भी फल-पुष्पों से समन्वित अरण्य में पर्यटन करता हुआ वह पक्षी स्वयं ही प्रलोभन के वशीभूत होकर पिंजड़े में जा घुसता है। उस कानन का पक्षी, जिसके वृक्षों को दावानल नें विनष्ट कर दिया है, अपने नीड़ की तृष्णा से ज्वलन-व्यथा के दूर हो जाने पर फिर वहीं जाना चाहता है। वह कुत्ता, जो घृणा तथा बुद्धि से विहीन है, वांत अशन को फिर से ग्रहण करना चाहता है।

मन में ऐसा विचारकर श्रमण ने मन्मथ के शोक से कर्षित नंद की ओर पुनः एक बार दृष्टिपात किया। पुनः उसका उपकार करने के अभिप्राय से वह ऐसी बात बोला, जो सुनने में अप्रिय किंतु हितकर थी—

"प्रिय बंधु ! तुम्हारा विचार सर्वथा अग्राह्य नहीं है। संसार की व्यवस्था ही ऐसी है। तृषित धन-संपत्ति में ही रमता है, मूर्ख को काम-सुख प्रिय है; किंतु सज्जन की अभिरति प्रशांति में रहती है। अतः पूज्य श्रमण का वेश ग्रहण कर गृह के लिये चिंता करना तुम्हारे सदृश धीमान् के लिये उचित नहीं। कल्याण-प्रद शांति-मार्ग में स्थित पुरुष के लिये गृह की चिंतना दोष-पूर्ण है। जो पुरुष कलि का त्याग कर फिर कलि का आश्रय लेता है, वह ठीक उस अजितेंद्रिय के सदृश है, जो कलि से उत्पन्न वनिता का त्याग कर पुनः उसकी सेवा के लिये

उत्सुक होता है। स्त्रियाँ विषैली लता तथा सर्पयुक्त गुफा से भी अधिक हानिकारक होती हैं। प्रमदा मद का कारण होती हैं, वे मद को चूर्ण करनेवाली हैं। वे भय की जननी हैं, दोष की खान हैं। वे भाई-भाई को लड़ाती हैं, मित्र-मित्र में भिन्नता प्रकट कराती हैं।

"इनके वचन में मधु तथा हृदय में हलाहल का वास है। जलती हुई अग्नि पकड़ी जा सकती है, हवा को पकड़ सकते हैं, कुपित भुजंग को गिरफ़्तार कर सकते हैं; पर प्रमदा के मन को वश में नहीं कर सकते।

"स्त्री कृतघ्न होती है। वह न तो मधुर वचन, न लालन और न मैत्री का स्मरण रखती है। वह स्वभावतः चंचल होती है। किसी चीज़ को लेने के समय नर्म प्रतीत होती है, देने के समय विलास प्रकट करती है, प्रणत जनों पर गर्व करती और मानी जनों के प्रति तृप्ति प्रदर्शित करती है। गुणवान् को पति मानती है, गुणहीन को शत्रु की दृष्टि से देखती है। धनवान् के लिये लालायित रहती है, पर धनहीन की अवज्ञा करती है।

"प्रमदाओं की गति कहाँ नहीं है। शक्रजित्सुता ने श्वपच का पाणिग्रहण किया। कुमुद्वती ने वकमोनरिपु को अपनाया। बृहद्रथा ने मृगराज को अपना प्राणनाथ बनाया। अतः इनका मन कृतघ्न, अनार्य तथा अस्थिर होता है। भला ऐसी मन-

चली स्त्रियों में सूक्ष्मदर्शी पंडित कभी मन लगा सकते हैं। जर्जर भांड के सदृश अपवित्र स्त्री को कौन स्पर्श करेगा ? जब स्त्री का शरीर चमड़े और हड्डी का ही पंजर है, तब, भाई नंद, तुम उस ओर क्यों आकृष्ट हो रहे हो? मन से तथा शरीर से स्त्रियों को दोषवती समझकर अपने चपल मन को उस ओर से रोको। तुम तो श्रुतवान्, मतिमान् तथा कुलीन हो ; शमरस के प्रेमी हो। क्या मनस्वी, प्रिय-यशस्वी तथा स्थिरात्मा के लिये शमव्रत का त्याग करना उचित है ? तेजस्वी पुरुष व्रत से च्युत होने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेय-स्कर समझते हैं। कवच धारण कर, हाथ में धनुष ले और रथ पर आरूढ़ होकर जो वीर रणक्षेत्र में पहुँचता और पीठ दिखाकर भागता है, क्या वह निंदा का पात्र नहीं होता ? परिव्राजक का वेश धारण कर, भिक्षावृत्ति को स्वीकृत कर जो श्रमण पुनः काम से आकर्षित होगा, क्या वह निंद्य नहीं है ?

"नंद, पुनः देखो। जो श्रमण कल्याणप्रद मार्ग का अनुसरण कर शांत-रस का आस्वादन कर चुका हो, यदि वह प्रशांत वन को छोड़कर घर की अभिलाषा करे, तो काम-तृषित समझा जायगा। मैं तो समझता हूँ कि वह मनुष्य उस शूकर के सदृश है, जिसने अपने संरक्षक के भवन में तो शुद्ध

अन्न का आस्वादन कर उत्तम शय्या का आश्रय लिया है ; पर स्वामी के गृह से निर्मुक्त होते ही फिर उसी अपवित्र तथा चिरपरिचित खाद्य के लिये दौड़ पड़ता है। स्मरण रक्खो, बाघ का बच्चा घर पर पाले जाने पर भी अपना हिंस्र-स्वभाव नहीं छोड़ता। वनिता हज़ारों प्रयत्न करने पर भी अपनी अनर्थ-कारी प्रकृति का त्याग नहीं कर सकती।

"अतः स्त्रियों में इन दोषों का अवलोकन कर, काम-सुख को नदी के जल के सदृश चंचल समझ, इस जगत् को मृत्यु से उपसृष्ट देखकर मोक्ष में अपनी बुद्धि को लगाना ही तुम्हारे लिये हितकर है। इसी में तुम्हारी शांति है। इसी में तुम्हारे सुख की जड़ है।"

नवम सर्ग

भिक्षुक के मर्मस्पर्शी भाषण का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ। नंद ने कर्णपुटों से इसका पान किया ; पर शांति कोसों दूर थी। सुंदरी की चिंता में मतवाले होकर नंद ने सुनी-अनसुनी कर दी। उपकार करनेवाले वैद्य की बात मरने-वाला रोगी क्या कभी सुनता है ? फिर बल, रूप तथा यौवन से उन्मत्त नंद भिक्षुक की बात सुनता, तो कैसे सुनता ?

इसकी ऐसी अवस्था देख तथा नंद के घर लौटने की प्रबल

व्यवस्था पर विचार कर वह श्रमण पुनः बोला—"प्रिय नंद ! बल, रूप तथा जवानी को जैसा मैं समझता हूँ, तुम भी वैसा ही समझते हो। भेद केवल इतना ही है कि मैं इनके रहस्य को भली भाँति जानता हूँ, और तुम इनसे अनभिज्ञ है। यह शरीर रोग का सदन है, जरा के अधीन है। इसकी रक्षा अन्न, पान, शयनादि के द्वारा होती है, पर अंत में यह धोखा देता है; क्योंकि यह नश्वर है। सर्दी, गर्मी, व्याधि, जरा, क्षुधादि के द्वारा यह क्षय को प्राप्त होता है। अतः इस शरीर पर अभिमान करना तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित है। क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर के संयोग से यह शरीर बना है। यह अनर्थ की खान है। ये पंचमहाभूत सर्प के सदृश विषम हैं। सर्प तो मंत्रों के द्वारा शांत भी किया जा सकता है, पर ये पंचधातु मंत्र-साध्य नहीं। सर्पों में कोई-कोई किसी एक को संयोग से डसते हैं, पर ये पाँच सबको सभी काल में डसते हैं।

"इस शरीर को बल ही क्या है? शयन, अशन, पान आदि में से किसी एक के द्वारा भी इसकी उपेक्षा की जाय, तो यह एक भी व्यतिक्रम का सहन नहीं कर सकता। धूप से पीड़ित जिस प्रकार शीतत्व की आकांक्षा करता है, हिम से कातर जिस प्रकार अग्नि की शरण लेता है, ठीक उसी प्रकार भूख तथा प्यास

से व्याकुल जंतु अन्न तथा जल का आश्रय लेता है। तब बताओ, कौन ऐसा जंतु है, जो बलवान् होने का दम भरता है। अतः इस शरीर को आतुर जानकर भी अपने को बलवान् कहना नितांत अनुचित है। यह संसार असार, अनिश्चित, अनित्य तथा अव्यस्थित है। इसके पराक्रम की भी यही अवस्था है।

"देखो, सहस्रबाहु कार्तवीर्य अर्जुन को अपने बल का बड़ा अभिमान था। पर उसका बल कहाँ गया था, जिस समय भार्गव परशुराम ने रणक्षेत्र में उसकी भुजाएँ काट डालीं? कंस के विनाशक पुरुषोत्तम कृष्ण को कौन नहीं जानता? इनके शारीरिक बल की भी उस समय थाह लग गई, जिस समय जरा ने एक ही बाण से इनका काम तमाम कर दिया। देवतों के द्रोही दिति-पुत्र उचि और नमुचि के पराक्रम की भी यही हालत हुई। वासव ने इन्हें भी यमनिकेतन का अतिथि बना दिया। कौरवों की शक्ति उस समय कहाँ गई थी, जिस समय वे यज्ञ के समिध की भाँति रणाग्नि में आहूत कर दिए गए। इसलिये, प्रिय नंद, मानियों के बल-वीर्य को भी अवमर्दित समझ, संसार को जरा-मृत्यु से ग्रसित विचार कर बल में अभिमान करना अनुपयुक्त है। यदि तुम समझते हो कि तुम्हारे शरीर में अपरिमेय बल है, तो इंद्रियों के साथ युद्ध करो। इंद्रियों के साथ युद्ध में यदि तुम्हें विजय लाभ हो,

तो तुम अवश्य पराक्रमी हो, अन्यथा तुम्हारा बल मिथ्या है। स्मरण रक्खो, जो घोड़े, रथ तथा हाथी सहित मनुष्य को जीतते हैं, वे वैसे वीर नहीं, जैसा चंचल इंद्रियों को जीतने-वाला मनस्वी है।

"यदि तुम्हारा यह विचार है कि तुम सुंदर हो, तो इस विचार का भी त्याग कर दो। रूपवान् तो वही है जो शरीर-संस्कार के विना सुंदरता धारण करता है। सुंदर वही है, जो वस्त्र न पहनने पर भी लज्जा नहीं मालूम करता। शरीर के सौंदर्य पर वही अभिमान कर सकता है, जिसे शौच काल में भी जल के स्पर्श करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। नंद, यदि ये गुण तुम्हारे शरीर में नहीं हैं, तो तुम कैसे सुंदर कहे जा सकते हो ?

"इस यौवन पर क्या अभिमान करते हो ! यह तो तीन दिन का है। ऋतु व्यतीत होती है, पुनः आती है। चंद्रमा क्षय को प्राप्त होता है, पुनः पूर्ण हो जाता है। पर नदी का जल और मानव-यौवन जहाँ एक बार गए कि फिर नहीं लौटते। आज जिस शरीर पर तुम्हारा मद है, वही ्म्हारे गर्व का खर्व करेगा।

" जिससमय तुम्हारी दाढ़ी पक जायगी, चमड़ा सिकुड़ जायगा दाँत गिर पड़ेंगे, भ्रकुटी शिथिल हो जायगी और वृद्धावस्था

घेर लेगी, उस समय ज़रा अपने मुख को देखना। बुढ़ापा रूप, यौवन तथा बल का संहार कर देता है; जवानी की गर्मी को शांत कर देता है। जिस प्रकार ऊख से रस निकाल लेने पर, वह जलाने ही के काम में आती है, उसी प्रकार जब जरा मानव-शरीर के बल, रूप और यौवन का रस चूस लेती है, तब वह केवल मिट्टी से संबंध जोड़ने ही के योग्य रह जाता है। जरा के सदृश मनुष्य का दूसरा रिपु नहीं है। यह स्मृति को चुरा लेती है। शरीर को हराती है, रति क्षय करती है, कान और आँख को मंद कर देती और अवयवों को ढीला कर देती है।

"अतः हे नंद, संसार को जरा से गृहीत जानकर भी अपने को सुंदर, हाथ-पैरवाला जवान बताना अनर्थ है। जब यह शरीर किसी के वश में नहीं है, और नाना प्रकार के उपद्रवों से जकड़ा हुआ है, तो आपत्ति के भवन देह के पीछे लट्टू होना क्या उचित है? ऐसे दुःखपूर्ण शरीर को पाकर जीव कैसे सुख प्राप्त कर सकता है। शांति तो तभी मिल सकती है, जब इच्छाओं का दमन हो। इच्छाओं के उपभोग से तृप्ति नहीं हो सकती। हवि के द्वारा प्रदीप्त अनल की संतुष्टि दुराशा-मात्र है। काम-सुख के भोग के साथ विषयों में अभिरति बढ़ती जाती है। विषय अनर्थ की जड़ हैं। ये पहले तो मनुष्य

को फसाते हैं, पर पीछे उनके प्राणों के गाहक होते हैं। प्यारे भाई! कह सकते हो कि किसी मनुष्य ने विषयों की सेवा कर शांति प्राप्त की है? अतः निवेदन है कि यदि मेरा उपदेश हितकर प्रतीत हो, तो ग्रहण करो; अन्यथा अपने विचार से मुझे अवगत करो।"

कोविद श्रमण के वचन सुनकर भी नंद को धीरज न हुआ और न शांति ही मिली। मद से मतवाले हाथी की भाँति वह जैसा-का-तैसा अड़ा रहा। उसका भाव समझकर श्रमण ने बुद्ध भगवान् को नंद की अवस्था जा सुनाई।

दशम सर्ग

भगवान् बुद्ध ने सुना कि नंद सद्व्रत छोड़ने पर है, स्त्री को देखने के लिये लालायित है, और घर लौटने के लिये संकल्प कर चुका है। ऐसा संदेश पा सुगत ने उसे बुला भेजा। नंद उपस्थित हुआ। आज नंद का चेहरा उदास था। प्रसन्नता उससे कोसों दूर थी। धीरज बिदा माँगा चाहता था। चित्त चलायमान हो रहा था; पर मोक्ष का मार्ग, जिसके लिये उसने लँगोटा कसा था, बहुत दूर था।

सुगत ने नंद की ओर दृष्टिपात कर पूछा—"नंद! क्या

तुम्हारे विषय में जो बातें मैंने सुनी हैं, वे सत्य हैं ?" नंद ने लज्जा को तिलांजलि देकर भगवान् से अपना निश्चय कह डाला। बस, अब क्या था ! भार्यारूप अंधकार में भ्रमण करते हुए नंद के हाथ को सुगत ने पकड़ लिया। उसके साथ ही वे आकाश में उड़ चले। निर्मल गगन में काषाय-वस्त्र पहने हुए वे दोनों स्वच्छ सुवर्ण की भाँति प्रतीत होते थे। उड़ते-उड़ते वे हिमवान्-पर्वत पर आए, जो देवदारु की गंध से सुवासित हो रहा था, जो धातुओं से परिपूरित था, जो देवता तथा ऋषियों का आश्रम था, और जिसके पार्श्व से अनेक नदियाँ झर-झर शब्द करती हुई नीचे की ओर प्रवाहित होती थीं। पर्वत से ऐसे निर्झर प्रस्रवित हो रहे थे जो कायिक आयास को दूर करनेवाले थे।

चारण तथा सिद्धों से सेवित उस मंगलप्रद गिरिराज पर आकाश के हस्ती की भाँति वे दोनों अवस्थित हुए। शांतेंद्रिय उस मुनि के वहाँ पर स्थित हो जाने के अनंतर नंद ने चारों ओर देखा। दरी, कुंज, वनौकश तथा पर्वत के अन्य आभरणों को देख उसे अतुल आनंद प्राप्त हुआ। पर्वत के श्वेत शिखर पर मयूर स्वच्छंदतापूर्वक नृत्य कर रहे थे। कहीं तो मृगराज मनःशिला पर लेटा हुआ था, और कहीं पूँछ पटकता हुआ व्याघ्र इधर-उधर विचरण करता था। कहीं चमरी

चर रही थी, और कहीं कदंबादि के वृक्ष शाखाओं से गिरि-राज का चुंबन कर रहे थे। स्वर्ण के सदृश गोरे तथा शार्दूल के सदृश सबल किरातों का झुंड पर्वत-गुफा से निकल इस प्रकार का तुमुल शब्द कर रहा था कि पर्वत-कंदरा प्रतिध्वनित हो रही थी। गिरिराज की कंदराओं में विहार करनेवाली अति सुंदरी किन्नरियाँ दिशाओं की शोभा बढ़ा रही थीं। पर्वत के ऊपर स्थित देवदारु-वृक्षों की एक शाखा से दूसरी शाखा पर कपि छलाँग मार रहे थे। उसी वृक्ष पर विपन्न दृष्टि से एक वानरी बैठी हुई थी। उसने आलक्तक से मुख रंजित कर लिया था। अनेक वानर उसके पीछे उन्मत्त हो रहे थे।

इस सौभाग्यवती हरिपत्नी का प्रेक्षण कर भगवान् बुद्ध नंद से बोले—"वत्स! क्या तुम्हारी भार्या रूप और चेष्टा में इस वानरी के सदृश है? इसके मुख को तो एक बार देखो। कैसे यह वानरों को हाव-भाव से सता रही है।" भगवान् की बात सुनकर नंद मुसकिराता हुआ बोला—"प्रभो, कहाँ वह उत्तम स्त्री और कहाँ यह नगक्लेशकरी वानरी। दोनों में स्वर्ग-नरक का अंतर है।"

नंद की बात सुन भगवान् उनको लिए हुए सम्राट् वज्रधर के क्रीड़ा-कानन में आए। इस प्रमदवन की शोभा अवर्णनीय थी। एक-एक क्षण में वृक्ष ऋतु-ऋतु की आकृति को धारण

कर रहे थे। कितने तो ऐसे महीरुह थे जिनमें छः ऋतुओं का सौंदर्य सन्निवेशित था। कितने पेड़ विचित्र तथा सुगंधित माला गूँथ रहे थे। नंदन-वन के सरोवर में कमल विकसित हो भ्रमरों से परिव्याप्त थे। बहुत-से तो ऐसे वृक्ष थे, जिनसे अत्यंत सूक्ष्म और चिक्कण वस्त्र निकल रहे थे। कतिपय वृक्ष ऐसे थे, जिनमें हार, मणि, कुंडल, केयूर, नूपुर तथा अन्य स्वर्गानुरूप फल लगे हुए थे। नलिनी में वैदूर्य, कांचन, केशर तथा अन्य मणियों के फल फले हुए थे। ये वृक्ष 'अरेबियन नाइट' के भूगर्भ-स्थित उद्यान के वृक्षों को भी मात कर रहे थे।* मंदार-वृक्ष, कुशेशय, कोकनद तथा अन्य वृक्ष भी वर्तमान थे। पारिजात की स्थिति से क्रीड़ा-कानन और भी वैभवपूर्ण प्रतीत होता था।

इन वृक्षों पर भाँति-भाँति के विहंग कलरव कर रहे थे। किसी के नेत्र स्फटिक के सदृश शुभ्र थे; किसी के पक्ष लाल, किसी के उज्ज्वल और किसी के माजिष्ठ-रंग के थे। ये पक्षी अपने मनोहर स्वर से क्रीड़ोद्यान के पथिकों के कर्ण-कुहरों को सुख प्रदान कर रहे थे। प्रदीप्ताग्नि की भाँति देदीप्यमान रोचिष्णु पक्षी का मधुर स्वर अप्सराओं की दृष्टि आकृष्ट कर रहा था। इसी नंदन-वन में पुण्यवान् महात्मा विश्राम कर रहे थे। ये शोक, दुःख तथा जरा से परे थे।

---

* परिहासोक्ति।—लेखक

इनके शरीर से ज्योति निकलकर दिशाओं में प्रकीर्ण हो रही थी। तंद्रा, निद्रा, रति, शोक और रोग से रहित, नित्योत्सव से पूर्ण इस लोक को देखकर नंद ने जरा, मृत्यु के अधीन सदार्त पृथ्वीलोक को स्मशान-भूमि के समान समझा। (नंद इस इंद्र के वन के चारों ओर गर्विता, हर्षान्विता अप्सराओं को देख सन्न रह जाता है। उसकी बुद्धि ग़ायब-सी हो जाती है। कुछ बन नहीं पड़ता। होश कर वह पुनः उनकी ओर दृष्टिपात करता है। वह उनको सदा युवती पाता है। सोचता है—इनका कार्य क्या है? मदन ही इनका कार्य है— ऐसा उत्तर मिलता है। ये पुण्यशालियों के विहार के लिये हैं। ये दिव्य तथा निर्दोष हैं। देवों के तपस्या-फल के आश्रित रहती हैं।) इन अप्सराओं में कोई धीरे-धीरे गा रही थीं, कोई विलास-पूर्वक पद्मों को तोड़ रही थीं। कतिपय अमर-वधुएँ नाच रही थीं।

इन अमरांगनाओं को देखकर राग के मारे नंद का शरीर काँपने लगा। उनके रूप का पिपासु, उनकी प्राप्ति के लिये विह्वल नंद का साथ धैर्य ने पुनः छोड़ दिया। आख़िर नंद की इस शोचनीय अवस्था का कारण कौन हुआ? महात्मा बुद्ध। उन्होंने नंद का ऐसा अपकार क्यों किया? भलाई के लिये। मनुष्य मलिन वस्त्र का मल दूर करने के उद्देश्य से राख द्वारा

उसे पुनः मलिन कर देता है। वस्त्र को फिर से दूषित करने में मल को बढ़ाना उसका उद्देश्य नहीं। काठ ही काठ को काटता है। जाति ही जाति का संहार करती है। अतः राग ही राग को विनष्ट करेगा। मुनि ने भी नंद के रजस्पूर्ण मन को रजोगुण ही द्वारा आकृष्ट किया। वैद्य शरीर के रोग को दूर करने के अभिप्राय से पहले रोगी की व्याधि की वृद्धि करता है; पीछे रोग को समूल नष्ट कर देता है। भगवान् ने भी नंद के राग को मारने की इच्छा से राग का ही आश्रय लिया।

सहस्ररश्मि की दीप्ति दीप की प्रभा को लुप्त कर देती है। अप्सराओं के सौंदर्य ने नंद के हृदय से पार्थिव नारियों की द्युति को निर्वासित कर दिया। लोक की व्यवस्था ही ऐसी है। बड़ा सौंदर्य छोटे सौंदर्य को तिरस्कृत कर देता है। बड़ी आवाज़ के सामने छोटी आवाज़ की कुछ नहीं चलती। अतः छोटे के विनाश के लिये बड़ा ही साधन है। नंद-सा मनुष्य उन अप्सराओं को देख सका—इसका एक-मात्र कारण मुनि का प्रभाव था। पर नंद कमज़ोर-दिल था। उनकी सुंदरता उसके दुर्बल मन को जलाने लगी।

सुगत बड़ा मनोविज्ञानवेत्ता था। संसार के रहस्यों को ख़ूब समझता था। मानव-प्रकृति की असारता का मर्मज्ञ था। अतः नंद का प्रेम सुंदरी से हटा देख और अप्सराओं में

सन्निवेशित पा, राग के द्वारा राग का विनाश चाहता हुआ, वह बोला—नंद ! इन स्त्रियों को एक बार देखो, और मुझसे ठीक-ठीक कहो कि रूप और गुण में ये कैसी हैं। पुनः यह कहो कि वह कैसी है, जिसमें तुम्हारा मन आसक्त है।

अप्सराओं को एकटक से निहारता और रागाग्नि से हृदय को जलाता हुआ, काम से कर्षित नंद हाथ जोड़कर बोला—नाथ ! मैं क्या बताऊँ। केवल इतना ही कहा चाहता हूँ कि जो अंतर सुंदरी और कानी वानरी में था, वही अंतर इन स्वर्गीय देवियों और मेरी धर्मपत्नी में है। मेरी स्त्री इनके सामने नेत्रविहीन वानरी से भी गई-गुजरी मालूम पड़ती है। वह कृपण है। अब मेरा मन उसके सहवास का आकांक्षी नहीं, वरन् इन देव-वधुओं के चरणों का दास हुआ चाहता है। नाथ ! मेरी अवस्था अनुकंपा के योग्य है। दया करो। धूप का मारा यदि अग्नि से जलाया जाय, तो उसकी दशा कैसी हो, इसे आप स्वयं सोचिए। मृदु मानव-राग का संतप्त आपका प्यारा नंद इस समय भीषण रागाग्नि से जल रहा है। बचाओ। वचन-जल से इस अग्नि को बुझाओ; नहीं तो मैं मरा कृपासिंधु ! आज इस राग से उत्पन्न अनल मुझ वृक्ष को भस्म के रूप में परिणत किया चाहता है। आपकी शरण में हूँ, भुन रहा हूँ, रक्षा करो। वसुंधरा को

मुझे धैर्य देने का साहस नहीं है। उसके सामान मेरे कार्य के योग्य नहीं। इस मरते हुए को वचनामृत प्रदान करो। मन्मथ-सर्प ने हृदय को डस लिया है। शीघ्र ओषधि करो ; नहीं तो मैं मरा। (इतना कह नंद चुप हो जाता है। सारा शरीर उसका रोमांच हो जाता है। आँखों से अश्रु निर्झर प्रस्रवित हो रहे हैं। हाथ जोड़े हुए है, मस्तक अवनमित है।)

उसकी ऐसी हृदय-विदारक अवस्था देख महर्षि ने कहा—नंद! धैर्य धारण करो। आतुर न हो। विकार को रोको। मेरी बात पर विचार करो। यदि इन दिव्यांगनाओं को चाहते हो, तो सबसे पहले तप का आश्रय लो। ये अप्सराएँ बल, सेवा, रूप तथा संपत्ति द्वारा नहीं प्राप्त हो सकतीं। केवल धर्मचर्या ही इनकी उपलब्धि का साधन है। अतः धर्म का आचरण करो। इस स्वर्ग में तुम्हारे सदृश व्यक्ति का वास नहीं हो सकता ; केवल देवता अथवा उनके सदृश व्यक्ति ही यहाँ रह सकते हैं। इस रम्य वन तथा अजर योषित् की प्राप्ति शुभ कर्म के द्वारा ही हो सकती है। दूसरा कोई उपाय नहीं। पृथ्वी में मनुष्य कर, बल, श्रम तथा चातुर्य के द्वारा कदाचित् भद्रशीला प्राप्त कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता ; पर पुण्यकर्मा अवश्य ही धर्माचरण के द्वारा इनको प्राप्त करते हैं। अतः अप्रमत्त हो नियम में लग जाओ। अप्सराएँ स्वयं तुम्हारे पीछे-

पीछे चलेंगी। तपस्वियों की सेवा करना तो इनका काम ही है। मैं तुम और तुम्हारे स्थिर व्रत के बीच में उत्तरदायी होता हूँ। तुम अवश्य इन्हें पाओगे। ऐसा कह बुद्ध भगवान् नंद के साथ नंदन-वन से पवन के सदृश पृथ्वीतल पर लौट आए।

एकादश सर्ग

नंदन-वन में विचरण करनेवाली उन वनिताओं को देखकर नंद ने अपने चपल और दुर्दमनीय मन को नियम-स्तंभ में बाँधा। पार्थिव स्त्रियों से विरत नंद, उन अप्सराओं को हृदय में रख धर्माचरण में लीन हो गया। लोलेंद्रिय सुंदर, इंद्रियों को संतुष्ट करने के उद्देश्य से, नियतेंद्रिय हो गया। जल तथा अग्नि-संसर्ग के सदृश नंद-रूपी समुद्र में शांति और मदन का सम्मिलन हुआ। कठिन नियम का पालन करता हुआ दर्शनीय सुगतबंधु, अप्सराओं की चिंता के कारण, विरूपता को प्राप्त हो गया। स्त्रियों के विषय में चर्चा उठने पर भार्याप्रिय नंद वीतराग के सदृश स्थित हो जाता था। न वह हँसता, न लुब्ध होता।

इसे स्त्री-प्रेम से पराङ्मुख देखकर आनंद नाम का एक श्रमण प्रेमपूर्वक नंद से बोला—नंद! तुम्हारा कार्य तुम्हारी

कुलीनता प्रकट करता है। प्रशंसा है तुम्हारी बुद्धि की, विवेक की और स्थिरता की कि इतने अल्पकाल में इंद्रियों को रोक तुम धर्मपथ पर आरूढ़ हो गए। कामी, व्यसनी एवं विषयी व्यक्ति में ऐसा आकस्मिक परिवर्तन संघटित होगा—ऐसा किसी ने स्वप्न में भी न सोचा था। क्षुद्र रोग का निवारण अल्प यत्न के द्वारा संभव है; पर बहुधा प्रबल रोग प्रबल यत्न द्वारा भी प्रशांत नहीं होते। तुम्हारी मानसिक व्याधि बलवती और दुःसाध्य थी। बड़े हर्ष की बात है कि तुम उस व्याधि से विनिवृत हो गए। यह तुम्हारी धृति का प्रभाव है। अहंकारी का विनयी होना साधारण बात नहीं। तुम्हारा भीषण व्रत देख मुझे एक संदेह हो रहा है। यदि तुम बुरा न समझो, तो मैं पूछने का साहस करूँ। तुम्हारी सज्जनता पर मुझे पूर्ण विश्वास है। तुम आर्य हो, सज्जन हो, विनीत हो। अतः प्रेमपूर्वक जिज्ञासा करनेवाले इस सहचर की इच्छा तुम पूर्ण करोगे। सुनने में आया है कि तुम अप्सराओं की प्राप्ति के लिये ही धर्मचर्या में निरत हो। क्या यह जनश्रुति सत्य है?

आनंद की बात सुनकर नंद ने दीर्घ श्वास ली। पुनः अपना मुख नीचे कर वह कुछ सोचने लगा। उसके लक्षण से उसका मन-संकल्प प्रकट हुआ। पुनः "मौनं स्वीकार-

लक्षणम्" ने भी श्रमण के अनुमान को परिपुष्ट किया। वह श्रमण पुनः बोला—प्रिय बंधु ! आकृति से तुम्हारे धर्म का प्रयोजन ज्ञात हुआ। यह जानकर मुझे हँसी तथा दया, दोनों आती हैं। तुम्हारा उद्देश्य अवश्य ही शोचनीय है। जिस प्रकार विवेकहीन विशाल प्रस्तर की चट्टान को केवल बैठने के उद्देश्य से कंधे पर ढोता है, उसी प्रकार तुम काम की तृप्ति के लिये इस कठिन नियम का अनुसरण कर रहे हो। जिस प्रकार वणिक् लाभ की इच्छा से वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता है, तुम्हारी धर्मचर्या भी काम ख़रीदने के लिये ही है। जिस प्रकार कृषक फल-विशेष के लाभ से बीज बोता है, उसी प्रकार विषयोपभोग के लिये ही तुमने विषयों का त्याग किया है। ध्यान रक्खो, ये विषय तुम्हें अंत में अवश्य धोखा देंगे। वे अप्सराएँ, जिनकी उपलब्धि के लिये तुम इतने भीषण क्लेश का सामना कर रहे हो, वे अंत में तुम्हें अवश्य छोड़ेंगी। अरे नंद ! तुम्हारे हृदय में तो कामाग्नि प्रज्वलित है, तो इस शरीर से क्यों इस व्रत को धारण कर रहे हो ? मन से अब्रह्मचारी होने पर भी ऊपर से क्यों अपने को ब्रह्मचारी बना रहे हो ? इस संसार में रहकर तुमने सैकड़ों अप्सराओं को प्राप्त किया—छोड़ा, तब पुनः उनके प्रति ऐसी स्पृहा कैसी ? स्मरण रक्खो, ईंधन के द्वारा अग्नि की तृप्ति नहीं हो सकती; पानी के

द्वारा लवण-समुद्र की संतुष्टि दुराशा-मात्र है, काम में अतृप्त पुरुष की तृप्ति काम के द्वारा असंभव है। अतृप्त को शांति कहाँ, अशांत को सुख कहाँ, असुखी को प्रीति कहाँ, और अप्रीतिमान् को रति कहाँ !

यदि रमण करने की बलवती इच्छा है, तो अध्यात्म में अपना मन क्यों नहीं लगाते ? अध्यात्म के सदृश प्रशांत तथा अनवद्य कोई दूसरा प्रेम नहीं। अध्यात्म-रति के लिये न विभूषण की आवश्यकता है, न स्त्री की, और न किसी विशिष्ट स्थान की। जहाँ पर मनुष्य है, वहीं वह अध्यात्म-रति के साथ विश्राम-लाभ कर सकता है। सतृष्ण व्यक्ति को न तो संपत्ति और न विपत्ति ही शांति प्रदान कर सकती है। उसे न दिन को सांत्वना मिलती है, और न रात को। काम की अभिलाषा दुःखप्रद है, उसकी प्राप्ति तृप्तिकर नहीं। काम से अवश्यं-भावी वियोग शोक का मूल है। नंद ! देखो, दुष्कर कर्म के द्वारा दुर्लभ स्वर्ग को प्राप्त कर मनुष्य पुनः नर-लोक को आता है। स्वर्ग-भ्रष्ट को किसी प्रकार से कुशल नहीं। सोचो तो सही। स्वर्गलोक के उत्तम विषयों का उपभोग कर, वहाँ से परिभ्रष्ट होने पर प्राणी पुनः किस वस्तु का आस्वादन करेगा, यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

स्वर्ग-सुख भी स्थिर नहीं है। उसे भी मनुष्य तथा देवगण सदा

के लिये नहीं पाते। शिवि की कथा तो तुम्हें मालूम ही है। बाज़ को अपने शरीर का मांस देकर उस राजा ने स्वर्ग प्राप्त किया। वह भी वहाँ से कुछ दिनों के अनंतर निकाल दिया गया। मान्धाता की भी ऐसी ही अवस्था हुई। उसने पहले पृथ्वी-लोक में सार्वभौम का पद प्राप्त कर इंद्र का आधा आसन पाया। देवत्व प्राप्त करने पर भी उसे पुनः नरलोक आना पड़ा। राजा नहुष ने बहुत समय तक देवतों पर राज्य किया। वह भी वहाँ से निकाल दिया गया, और पृथ्वीलोक में आकर सर्पत्व को प्राप्त हुआ। प्रख्यात दिविड़, भूरिद्युम्न, ययाति तथा अन्य राजर्षि अपने सुकर्मों के कारण स्वर्गस्थ होकर पुनः मर्त्यलोक के आश्रित हुए। असुरों की भी यही अवस्था थी। पूर्व-देव वे ही थे। देवतों ने जब इनकी श्री छीन ली, तब उन्हें पाताल-लोक की शरण लेनी पड़ी। राजर्षियों, असुरों और देवों की बात तो ताक पर रक्खो, ज़रा महेंद्र की ओर तो दृष्टिपात करो। ये बेचारे तो सैकड़ों बार श्रीहत और पदच्युत हुए। चंड-विक्रम उपेंद्र की भी यही हालत है। इंद्र की सभा को अलंकृत कर, अप्सराओं के सहवास का रस आस्वादित कर कर्मपथ से च्युत हो, आप भी कई बार भूतल पर आए। हतभागे देवतों का क्या पूछना। ये तो प्रत्येक

क्षण—हा चैत्ररथ ! हा स्वर्गवापी ! हा प्रिये मंदाकिनी !—ऐसा आर्तनाद करते हुए स्वर्गलोक से च्युत होते हैं।

मरने के समय बुद्धिमानों को भी तीव्र दुःख होता है। तब कैसी अनिर्वचनीय वेदना इन स्वर्गभ्रष्ट देवों को होती होगी, यह तुम्हीं सोचो। मेरा तो तुमसे विनम्र निवेदन है कि स्वर्ग-सुख को क्षयशील समझ, अपवर्ग में मन लगाओ। जब ऐश्वर्यवान् राजर्षि, देव, सुर और असुर स्वर्ग से बहिर्गत कर दिए गए और क्षय को प्राप्त हुए, तो कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो विनाशशील स्वर्ग-सुख की लिप्सा करेगा। नंद ! आँख खोलकर देखो । सूत्र से बँधा हुआ पक्षी दूर चले जाने पर पुनः उसी स्थल के लिये लौटता है । अज्ञान-सूत्र से बँधे जीव की भी यही अवस्था है। अध्यात्म-मार्ग की दूरी तय करने पर भी उसे अज्ञान के कारण इसी नरलोक में आना पड़ता है। अतः इस जगत् को जन्म, व्याधि, मृत्यु और व्यसन से परिगत समझकर, पुनः संसार, स्वर्ग, नरक, पितृलोक तथा तिर्यक्-लोक में इस जीव को भटकते देखकर, हे नंद , तुम निर्भय, अमर, अजर और शोक-रहित ब्रह्मचर्य का धारण करो और चलायमान स्वर्गलोक के प्रति प्रेम का हनन करो।

द्वादश सर्ग

जब आनंद ने कहा कि रे नंद, तुम अप्सराओं की प्राप्ति के लिये धर्माचरण कर रहे हो, सो ठीक नहीं। यह सुनकर उसे महती ग्लानि हुई। ग्लानि के कारण प्रमोद ने हृदय से बिदाई माँगी। प्रसन्नता के अभाव के कारण मन व्रत से विमुख हो गया। स्वर्गलोक के सुख को नंद ने पहले अनश्वर समझ रक्खा था। अब उसे यह क्षयशील प्रतीत हुआ। अतः उसे महान् दुःख हुआ। सावधान सारथी की भाँति नंद ने उन्मार्ग से अपने संकल्प-घोड़े को फेरकर मनोरथ को सन्मार्ग पर चलाया। स्वर्ग की तृष्णा से निवृत्त होते ही वह स्वस्थ मालूम होने लगा। दिव्यांगनाओं के दर्शन से नंद के जीवन-क्षेत्र में युगांतर उपस्थित हो गया था। वह अपनी स्त्री को भूल गया था। केवल वे अमर-वधुएँ ही उसकी चिंतना का विषय थीं। आज स्वर्गीय सुख की अनित्यता ने उसे एक दूसरा पाठ पढ़ाया। वह उन्हें भी भूल गया। आज उसके सामने शाश्वत सुख का अन्वेषण वर्तमान है। सच्ची शांति कहाँ है, कैसे प्राप्त होगी, इस अनित्य जीवन से उद्धार कैसे हो सकता है—ये प्रश्न उसे व्यथित कर रहे हैं। कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता। अतः गुरु के पास चलता है।

गुरु को प्रणाम कर हाथ जोड़ गद्गद स्वर से बोला—

भगवन् ! अप्सराओं की प्राप्ति के लिये आपने उत्तर-दायित्व स्वीकार किया था। मुझे अब उनसे कोई काम नहीं। कृपया इस उत्तरदायित्व का त्याग करें। स्वर्ग-लोक के सुख को आवर्तक समझ और संसार की विचित्रता का अध्ययन कर मेरी प्रवृत्ति न इस लोक के प्रति है, न उस लोक के प्रति। जो लोग यत्नपूर्वक नियम तथा दमद्वारा स्वर्ग-लाभ करते हैं, वे भी अतृप्त हो वहाँ से इसी पृथ्वीलोक की शरण लेते हैं, तो ऐसे अनित्य स्वर्गलोक को नमस्कार है। परम-पद कैसे प्राप्त होगा, इसी की चिंता आज मुझे वेधित कर रही है। चर तथा अचर-सहित समस्त लोक दु:खों का मूल है, अत: मुझे ऐसी दीक्षा दीजिए, जिसे पाकर मैं शाश्वत शांति प्राप्त करूँ।

सुगत उसका आशय ताड़ गए। बोले—नंद ! तेरा विमर्श श्लाघ्य है। किसी ने ठीक कहा है कि अरणी का मंथन करने से अग्नि के साथ धुआँ निकलता है। हर्ष की बात है कि तूने चंचल इंद्रिय-घोड़ों को उन्मार्ग से रोका। बधाई है तेरे बुद्धि-विमर्श की। आज तेरा जन्म सुफल हुआ। आज तेरे लाभ का ठिकाना नहीं। जो इतना कामरसज्ञ था, वही आज काम से परे हो गया और अपना उत्सुक मन निष्कर्म में लगा दिया ! जीव संसार में सुख की प्राप्ति तथा

दुःख-निवारण के लिये प्रयत्न करता है; पर वह नहीं समझता कि जिसे वह सुख समझता है, वह दुःख का सदन है। आज तेरे हाथ में रामबाण ओषधि है।

विषय-विष का यथोचित पान कर तुम उचित समय पर ओषधि पीने के लिये उद्यत हो गए हो। जब मन राग से भरा रहता है, तो उसे बुरी चीज़ भी अच्छी मालूम होती है। पानी का प्यासा पथिक जल को दूषितावस्था में भी पाकर पीने की इच्छा करता है। वह उसके दोष पर दृष्टिपात नहीं करता। ऐसी बुद्धि रजोगुण से निरुद्ध रहती है। यह बुद्धि प्रचंड वायु से प्रेरित धूल से सनी सूर्य की प्रभा के सदृश है। तुम्हारी बुद्धि ऐसी नहीं। यह तो हृदय के अंधकार को नष्ट करनेवाली है। यह सूर्य की उस प्रातःकालीन प्रभा के सदृश है, जो प्रातःकाल रात के अँधेरे को दूर कर संसार को प्रकाशमय कर देती है। शुद्ध सत्त्व से पूरित तेरे मन का यह कार्य उचित ही है। आज सूक्ष्म नैष्ठिक कर्म में तेरी श्रद्धा हो गई है। इस धर्म को बढ़ाना ही तेरा कर्तव्य है।

हे धर्मज्ञ! जितने धर्म हैं, वे सब नियम तथा उद्देश्य के अधीन हैं। जाने की इच्छा करने से यह इच्छा गति के रूप में परिणत होती है। बिछौने का विचार आविर्भूत होने पर, शयन-कार्य में ही यह विचार परिवर्तित होता है। खड़े रहने

का प्रश्न मस्तिष्क में उठने पर खड़े ही रहने का कार्य संपादित होता है। अतः श्रद्धा ही कार्य की जननी है। जब मनुष्य की ऐसी श्रद्धा होती है कि ज़मीन के भीतर जल है, तब जल की आकांक्षा करता हुआ वह यत्नपूर्वक पृथ्वी को खोदकर जल प्राप्त करता है। इस स्थल में शस्य की उत्पत्ति न होगी, ऐसी धारणा जब कृषक की होती है, तो वह वहाँ बीज नहीं बोता। यहाँ पर श्रद्धा का अभाव कार्य का अभाव सूचित करता है। अतः श्रद्धा प्राणी का हाथ है—यह कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। श्रद्धा-हस्त ही द्वारा जीव धर्म को पकड़ता है। धर्म की उत्पत्ति का प्रथम साधन श्रद्धा ही है। इस हेतु इस श्रद्धांकुर की वृद्धि करना तुम्हारा कर्तव्य होगा। श्रद्धा की वृद्धि करना धर्म की अभिवृद्धि करना है। संसार इस बात को जानता है कि मूल की सेवा से वृक्ष का प्रवर्द्धन होता है। जिस मनुष्य का निश्चय दुर्बल है, उसका ज्ञान भी उचित नहीं। श्रद्धाहीन व्यक्ति अपने उद्देश्य में कृतकार्य नहीं होता। वह श्रद्धा श्रद्धा नहीं, जो स्थिर और बलवती न हो। जिसने तत्त्व को समझ लिया और नियम से इंद्रियों का दमन कर लिया है, उसका श्रद्धा-वृक्ष फल और पुष्प से समन्वित हो आश्रय प्रदान करता है।

त्रयोदश सर्ग

श्रद्धा के विषय में महर्षि बुद्ध से इस प्रकार की शिक्षा पाकर नंद को परम आनंद प्राप्त हुआ। उसने अपने को कृत-कृत्य समझा। उसे ऐसा भासित हुआ, जैसा प्रचुर धन उपलब्ध हुआ है। भगवान् बुद्ध की मूर्ति उसे शांति-प्रदान कर रही है, ऐसा मालूम हुआ। पांशु से निकलने पर भी सुवर्ण विशुद्ध, निर्मल तथा शुचि देख पड़ता है। धूलि में रख छोड़ने पर भी यह धूलि का दोष नहीं ग्रहण करता। जल में रहने पर भी पद्म जल से स्पृष्ट नहीं होता। भगवान् बुद्ध भी लोक में उत्पन्न होकर लोक की भलाई के लिये विचरण करते हुए लोक-धर्म से अवलिप्त न हुए, ऐसा नंद को जान पड़ा।

भगवान् बुद्ध ने नंद को उत्तम उपदेश का पात्र समझकर शिक्षा देना प्रारंभ किया—सौम्य! आज से तुम श्रद्धा को अपनाकर अमृत की प्राप्ति के लिये आचार की रक्षा करो। आचार ही सत्कार्य की कुंजी है। आचार के विनाश से शुभ कार्य का संपादन असंभव है। अतः चरित्र से संयुक्त होकर ब्रह्मचर्य का अवलंबन करो। पृथ्वी सच्चरित्र पर ही स्थित है। मोक्ष का सोपान वैराग्य है। वैराग्य से संवेग और संवेग से ज्ञान कीप्र ाप्ति होती है। ज्ञान का उपनिषद् समाधि है। समाधि

का परिणाम शारीरिक तथा मानसिक सुख है। अतः शील ही शाश्वत सुख की जड़ है। इसी की शरण लो। यही तेरा मित्र, बंधु, रक्षक, धन तथा बल है। मोक्ष की प्राप्ति में शील ही की प्रधानता है। शील का अनुसरण कर चपल इंद्रियों को इंद्रिय-संबंधी प्रलोभनों से रोको।

संसार में न कोई शत्रु है, और न पीड़क । केवल इंद्रिय ही दुःख का मूल है। शत्रु से मारे जाने पर मनुष्य नरक को नहीं प्राप्त करता, पर चपल इंद्रियों से आहत होने पर केवल नरक ही शरण है। शारीरिक तथा हार्दिक दुःख का एक-मात्र कारण इंद्रिय है।

विषय के द्वारा इंद्रिय की तृप्ति नहीं होती। सलिल से पूरित होने पर भी समुद्र संतोष-लाभ नहीं करता। विषय को देखकर एक तो उसमें लीन हो जाता है, दूसरा प्रसन्न होता है, तीसरा मध्यस्थ-सा प्रतीत होता और चौथे को घृणा उत्पन्न होती है। अतः विषय बंधन का हेतु है, न कि मुक्ति का साधन। हे नंद ! इन इंद्रिय-सर्पों से डसे जाने पर शम-भेषज का प्रयोग करो। शांति तभी दृष्टिगोचर होगी। बुराई पहुँ-चानेवाले रूप, रस, गंध, शब्द तथा स्पर्श से दूर रहो। इनके परित्याग ही में कल्याण है।

चतुर्दश सर्ग

स्मृति-कपाट के भीतर इंद्रिय-संवर* को बंद कर, भोजन कर, ध्यान में लीन होना ही कर्तव्य है। अधिक भोजन करना भी श्रेयस्कर नहीं। अधिक खाने से पराक्रम का ह्रास हो जाता है। निद्रा आती है, और कभी-कभी अनर्थ भी हो जाता है। अल्प भोजन भी कल्याणकर नहीं। अल्प भोजन से शरीर कृश हो जाता है। थोड़े बोझ से तराज़ू का पलड़ा कभी ऊपर उठता है, कभी नीचे जाता है। तुल्य भार जब तुला-दंड पर रहता है, तभी तुला उचित अवस्था में रहती है। मनुष्य की शक्ति भी उचित भोजन से बनी रहती है। गुरुतर अन्न से आक्रांत कामाग्नि प्रशांत नहीं होती। प्रचुर ईंधन से अवच्छन्न अल्पाग्नि प्रदीप्त होती है। आहार का संहार कदापि प्रशस्त नहीं। ईंधन-रहित अनल बुझ जाता है। सब प्राणियों की स्थिति अन्न ही द्वारा है। जिस प्रकार व्रणी चिकित्सा के निमित्त व्रण का आलेपन धारण करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को क्षुधा के विघात के लिये आहार का आश्रय लेना चाहिए। प्राणयात्रा के लिये भोजन का निषेध ठीक नहीं। जिस प्रकार नदी तथा समुद्र पार होने के लिये नौका अपेक्षित है, उसी प्रकार जन्म-सागर की दूरी शेष करने के लिये अन्न से परिपुष्ट शरीर आवश्यक है।

---

* मग

योग का अनुसरण शरीर को आहार प्रदान करता है। मनोधारणा के द्वारा दिन व्यतीत करना चाहिए। योग के द्वारा निद्रा को तिरस्कृत कर रात काटनी चाहिए। निद्रा कार्य का बाधक है। भय में, प्रीति में, शोक में लोक को निद्रा नहीं सताती। योगाचरण में भी इसका समावेश उचित नहीं। मृत्यु के आगमन के भय से धर्म को अपनाकर जगते रहना ही हितकर है। इस महान् भय को सामने देखकर बुद्धिमान् के लिये सोना कदापि श्लाघ्य नहीं। मृत्यु, व्याधि तथा जरा की अग्नि से प्रदीप्त जीव-लोक को देखकर कौन व्यक्ति सोना चाहेगा ? घर में आग लगने पर क्या कोई उद्वेग-रहित होकर खर्राटा लेना चाहेगा ? अतः निद्रा को अंधकार समझ इससे विभिन्न रहना ही लोक के लिये हितकर है।

रात का प्रथम भाग प्रयोग में बिताना चाहिए। दूसरे भाग में शरीर की शय्या पर विश्राम करना चाहिए। शांति-लिप्सु हृदय-ज्ञान ही पर सोते हैं। रात के तीसरे भाग में उठकर मन की शुद्धि योग द्वारा करना चाहिए। प्रत्येक कार्य का संपादन स्मृति द्वारा ही होता है। जिसकी स्मृति ठीक है, उसे क्लेश नहीं। सब अवस्था में स्मृति उस व्यक्ति की रक्षा करती है। स्मृति धात्री है। धात्री बालक की संरक्षा के लिये सदैव सजग तथा सचेष्ट रहती है। स्मृति की भी यही अवस्था

है। जिसने स्मृति का कवच नहीं पहना, वह सब दोषों का आकर है। उसका जीवन संकट-ग्रस्त है। उसका मन अनाथ है। वह स्वच्छंदता-पूर्वक विषयों में भटकता फिरता है। वह दृष्टि-रहित है। स्मृति-विहीन प्राणी हस्तस्थ अमृत को भी खो देता है। उसका सत्पथ नष्ट हो जाता है। उसे दुःखों से छुटकारा नहीं। अतः धर्माचरण में स्मृति शांति का हेतु है।

प्यारे नंद ! तुम विजन, विशब्द योग का अवलंबन करो; विवेक को प्रथम स्थान दो। सुख तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ेगा। जो प्रशम-रहित हैं, रागों से परिवेष्टित हैं, विजन स्थान का आश्रय नहीं लेते, उनके लिये वसुंधरा कंटकाकीर्ण है। शस्य के बीच चरती हुई गाय को शस्य से सदा के लिये निवारित करना दुस्साध्य है। उस व्यक्ति को भी सांसारिक विषयों से अलग करना कठिन है, जो उन्हीं में अवलिप्त है। अतः कहीं भोजन कर, कहीं वस्त्र पहन, आत्माराम में पर्यटन करता हुआ जीव शांति-लाभ करता है। ऐसा ही देही शम-सुख का रसज्ञ है। वही कृतमति है। वही दूसरे के संसर्ग को काँटा समझकर परित्यक्त करता है। वही विषय-व्यग्र-हृदय एवं द्वंद्वाराम जगत् में निर्द्वंद्व हो विचरता है। वही प्रज्ञारस का आस्वादन कर विषय-कृपण जगत् के उद्धार के लिये विचार करता है।

वही प्रीति-सलिल का पान करता है। वही त्रिदशपति के राज्य के सुख से भी श्रेष्ठ सुख का अनुभव करता है।

पंचदश सर्ग

बुद्ध भगवान् ने पुनः नंद से कहा—हे नंद! योग-साधन के समय यदि मानस-ज्वर तुझे सताने लगे, तो वस्त्र पर पड़ी हुई धूलि के सदृश उसका त्याग कर। काम का समूल विनाश शुद्ध भावना ही द्वारा होता है। काम (वासनाएँ) व्यसन के हेतु हैं। विषधर सर्प के सदृश ये त्याज्य हैं। इनका अन्वेषण दुःखप्रद है। इनकी रक्षा करना शांति की विघातक है। कामभ्रष्ट शोक को प्राप्त होता है। काम की प्राप्ति से तृप्ति नहीं हो सकती। जो मनुष्य धन द्वारा संतोष-लाभ किया चाहता है, स्वर्ग-प्राप्ति से अपने को कृतार्थ किया चाहता और काम से सुख चाहता है, वह अवश्य नाश को प्राप्त होता है। चल, असार, अनवस्थित और परिकल्पित सुख को कभी स्मृति में नहीं स्थान देना चाहिए।

संसार में विहिंसा भी मन को कभी-कभी क्षुब्ध करती है। इस विहिंसात्मक वितर्क को प्रमाद समझना। प्रकाश और तम में कभी मैत्री नहीं हो सकती। कारुण्य तथा हिंसा में कोई संबंध नहीं। वह व्यक्ति, जो दुःशीलता से निवृत्त हो हिंसा में

चित्त को लगाता है, ठीक उस हस्ती के सदृश है, जो स्नान करने पर भी पांशु से अपने शरीर को आच्छन्न करता है। व्याधि, मृत्यु तथा जरा से तो जीव-लोक दुःखित ही रहता है। इस जीव-लोक को जो और दुःख पहुँचाने का प्रयास करता है, वह अवश्य ही घृणा का पात्र है। उस दुष्ट मन को तुरंत दबाना चाहिए, जो दूसरे को बाधा पहुँचाना चाहता हो। अतः सब जीवों पर दया और स्नेह प्रदर्शित करना ही देही का धर्म है। हिंसात्मक विचार सर्वथा घृणास्पद है। अभिरति वितर्क की दुहिता है। मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं पर वितर्क करता है, अभ्यासवश उनके प्रति उसे अनुराग हो जाता है। अतः अकुशल वस्तु का त्याग और कुशल वस्तु की चिंतना ही श्रेयस्कर है। बुरे विचार अपने तथा दूसरों के लिये बराबर अहितकर हैं।

अर्थ, धर्म और काम की सेवा में भी कल्याण नहीं। तीनों की सेवा अनभिज्ञता की सूचक है। अनभिज्ञ पुरुष चंदन की लकड़ी को साधारण काठ की भाँति जला देता है। मूर्ख भी अकुशल वितर्कों द्वारा मनुष्यत्व को विनष्ट कर देता है। रत्न के गुण को न समझनेवाला रत्न-द्वीप में भी जाकर उनका परित्याग और लोष्ट्र का संग्रह करता है। विवेकहीन पुरुष की ऐसी ही दशा है। वह निःश्रेयस् धर्म को छोड़कर

अशुभ की चिंतना करता है। मनुष्यत्व की प्राप्ति शुभ कार्य के संपादन के लिये होती है ; पर जीव इसे शुभ कार्य में नहीं लगाता। ज्ञाति-जन के प्रति प्रेम होना तथा उनकी चिंतना में सदा लगा रहना जीव के लिये स्वाभाविक है। इस विपत्ति से भी छुटकारा पाना साधारण बात नहीं। स्मरण रक्खो, यह संसार सराय-सा है। जीव बटोही है। जिस प्रकार पथिक एक आश्रय-स्थल का त्याग कर अन्य आश्रय की शरण लेता है, उसी प्रकार ज्ञाति-वर्ग का समागमन है। यह जीव-लोक भिन्न-प्रकृति है। इसमें कोई किसी का प्रिय नहीं। यह संसार बालुका-मुष्टि की भाँति कार्य-कारण संबद्ध है। उदाहरण के लिये माता तथा पुत्र के संबंध पर दृष्टिपात करो। मा पुत्र को इस उद्देश्य से पालती है कि बड़ा होने पर वह अपनी मा का भरण-पोषण करेगा। पुत्र यह समझकर मा की सेवा करता है कि इसने मुझे अपने गर्भ में धारण किया था। दोनों के पक्ष में स्वार्थपरता है।

जब तक ज्ञाति-वर्ग अनुकूल मार्ग का अनुसरण करते हैं, तभी तक उनमें पारस्परिक प्रेम है। जिस समय एक सदस्य दूसरे के प्रतिकूल उठ खड़ा होता है, दोनों एक दूसरे के शत्रु बन बैठते हैं। कहीं तो अहित हित-सा बर्तता है, और कहीं हित शत्रु का बर्ताव करता है। जीव

कार्यांतर से स्नेह अथवा वैर करता है। चित्रकार स्वयं एक स्त्री का चित्र तैयार कर उसकी रक्षा करता है। चित्रकार ही में चित्र है; पर अब चित्रकार और चित्र रक्षक तथा रक्षित की तरह व्यवहृत किए जा रहे हैं। मनुष्य स्वयं दूसरे मनुष्य में स्नेह कर उससे मिलता है। पर जो तुम्हें परलोक में प्रिय होगा, उस बंधु के लिये तुम क्या करते हो, और वह तुम्हारे लिये क्या करता है? ज्ञाति के प्रति जो स्नेह है, वह काल्पनिक है—केवल बंधन-मात्र है। उसमें सार नहीं। वह प्रेम तुम्हारा ही है। उससे भी चित्त को रोकना उचित है।

जीवन के वितर्क अनेक हैं। उनका पारावार नहीं। यह स्थान मंगलप्रद है और यह अशुभ, इस स्थान पर जीवन उचित रीति से कटेगा; यहीं सर्व कार्य सफल होगा—इस प्रकार के विचार भी कभी-कभी उठते और अपना रंग जमाने लगते हैं। ऐसे वितर्क का भी परित्याग श्लाघ्य है। संसार में कोई भी स्थान नहीं, जहाँ ऋतु-परिवर्तन नहीं होता, जहाँ भूख, प्यास तथा थकावट जीव को नहीं सताती। सभी जगह दुःख वर्तमान है, कहीं भी सुख नहीं। कहीं शीत है, तो कहीं धूप। कहीं रोग है, तो कहीं भय। संसार सदा इनके द्वारा पीड्यमान है। जगत् अनाथ हो रहा है। इसे कहीं शरण नहीं। इस लोक का महान् भय जरा, व्याधि और मृत्यु

हैं। कोई भी ऐसा देश नहीं, जहाँ ये भय उपस्थित न हों। जहाँ कहीं यह शरीर जाता है, वहीं इसके पीछे दुःख लगा हुआ है। कोई भी स्थल विश्व में नहीं, जहाँ पहुँचते ही इनसे पिंड छूट जाय। जब सब जगह, सब काल में, सब किसी को दुःख ही झेलना पड़ता है, तो हे सौम्य, इस लोकचित्र में अनुराग कैसा ? इस संसार से निवृत्त जीव को यह जीवलोक दुःखाग्नि से आदीप्त देख पड़ता है।

यदि यह वितर्क तुम्हारे मानस-पटल पर अंकुरित हो कि तुम अभी न मरोगे, तो व्याधि को आत्मगत जानकर इसे भी सरासर सारहीन समझना। जीवन का विश्वास एक क्षण का भी नहीं करना; क्योंकि विश्वासघातक काल ओट में छिपा व्याघ्र की भाँति इसी जीवन-अरण्य में निलीन है। वह केवल अवसर की खोज में है। लड़के हो अथवा जवान हो, यह तुम्हें कभी नहीं सोचना होगा; क्योंकि मृत्यु के लिये सब अवस्थाएँ बराबर हैं। वह उम्र नहीं देखती। यह शरीर अनर्थों का क्षेत्र है। तत्त्वज्ञ के लिये इसमें आशा नहीं। महाभूतों का आश्रय उद्वहन करता हुआ व्यक्ति कैसे निवृ ित्त लाभ कर सकता है! आश्चर्य तो यही है कि सोकर भी जीव उठ जाता है। ऊपर साँस जाने पर भी वह पुनः लौट आती है। जो काल-बली गर्भ तक भी हनन करने के लिये पहुँच जाता है, अथवा

जिसका समावेश गर्भ तक भी है, उसका कैसे कोई विश्वास कर सकता है ? सुनने में आता है कि इस वसुंधरा में बहुत-से बलवान् और श्रुतवान् महापुरुष हुए, पर किसी ने इस क्रूर काल को न जीता। जिस समय यह जीव पर आक्रमण कर बैठता है, उस समय साम, दान, दंड, विभेद और नियम— एक भी काम नहीं आते। जीव निराश्रय हो जाता है। अतः चंचल आयु पर विश्वास करना उचित नहीं। यह काल नित्य जीव की हिंसा करता है, बुढ़ापे की भी प्रतीक्षा नहीं करता। तब जल-बुद्बुद के सदृश दुर्बल संसार को देखता हुआ कौन ऐसा उन्मत्त चित्तवाला है, जो कहेगा कि मैं अमर हूँ !

इसलिये इन वितर्कों से निस्तार पाना चाहो, तो आनापान स्मृति का आश्रय लो। पांशुधावक सुवर्ण की प्राप्ति के लिये पांशु की परवा नहीं करता, पांशु को फटककर सुवर्ण का ग्रहण करता है। मुमुक्षु दोषों को दूर कर धर्म का आश्रय लेता है। कर्मार पांशु-मिश्रित सुवर्ण को अग्नि में शोध कर शुद्ध कनक को निकाल लेता है। मोक्ष का इच्छुक भी योगाचार द्वारा दोषों पर विजय लाभ कर मन को शांति-रस में डुबो देता है, और इस निर्मल मन को भिक्षु इच्छानुसार अभिज्ञा में लगाता है।

षोडश सर्ग

यह जन्म दुःख का केंद्र है, जरादि व्यसनों का मूल है, सब आपत्तियों का क्षेत्र है। मृत्यु रोग का उद्भव-स्थल है। विष-मिश्रित अन्न जीवन-धारण के लिये नहीं है, प्रत्युत जीवन का वह विघातक है। इस लोक में जीव का जन्म सुख के लिये नहीं, बरन् दुःख का हेतु है। आकाश पवन का उत्पत्ति स्थान है। शमीगर्भ अग्नि का आशय है। वसुंधरा जल को जननो है। चित्त और शरीर भी दुःख के जनक हैं। पानी में द्रवत्व, पृथ्वी में काठिन्य, वायु में चलत्व, अग्नि में उष्णत्व—ये स्वाभाविक गुण हैं। चित्त और शरीर का भी स्वाभाविक गुण दुःखत्व है। केवल वर्तमान जीवन ही दुःखप्रद नहीं, बरन् अतीत भो ऐसा ही था, और भविष्य जीवन भी ऐसा ही होगा। यह अनुमान का विषय है। संप्रति अनल को उष्ण पाते हैं, दो-चार वर्षों के अनंतर भी इसमें उष्णत्व ही देखते हैं। अतः यह कहा जाता है कि अग्नि हर समय में उष्ण है; क्या भूत, क्या वर्तमान, क्या भविष्य—प्रत्येक काल में इसकी उष्णता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। जन्म के साथ भी यही बात है।

संसार के दुःख के निमित्त तृष्णादि दोष हैं। इन दुःखों का हेतु न ईश्वर है, न प्रकृति, न काल, न स्वभाव, न विधि और

न यदृच्छा। तृष्णा ही दुःख की जननी है, और दुःख ही जीवन का कारण है। जन्म-वृक्ष की जड़ तृष्णा है, और दुःख ही इसकी पुष्प-फल-समन्वित शाखाएँ हैं। जहाँ तृष्णा है, वहाँ दुःख है। तृष्णा को काट डालो, दुःख स्वयं कट जायगा। छिन्नमूल वृक्ष एक क्षण भी अवस्थित नहीं रह सकता। कारण के विनाश से कार्य का क्षय हो जाता है। तृष्णा में विरक्ति प्राप्त करते ही जीव को सनातन, अहार्य, आर्य मार्ग दृष्टिगोचर होता है। जिसकी तृष्णा विनष्ट हो गई, उसके जन्म का लय हो गया। जो जन्म से रहित हो गया, उसके लिये जरा नहीं, मृत्यु नहीं, व्याधि नहीं। इच्छारहित व्यक्ति को किसी से वियोग नहीं हो सकता। वह नैष्ठिक, अच्युत पद को प्राप्त होता है। दीपक जब निर्वृत्ति लाभ करता है तब वह न तो पृथ्वी को जाता है, न अंतरिक्ष को, न दिशा को और न विदिशा को। वह तैल के नाश से शांति लाभ करता है। बुद्धिमान् व्यक्ति भी निर्वृत्ति प्राप्त करके न तो पृथ्वी को जाता है न अंतरिक्ष को, न दिशा को और न विदिशा को। क्लेश के विनाश होने से ही वह शांति प्राप्त करता है।

योग-विधि में स्मृति के साथ-साथ समाधि अपेक्षित है। क्लेश के अंकुरों का दमन करने में समाधि समर्थ है। क्लेश के अंकुर वर्तमान रहने पर शील तथा उपचार का विस्तार

नहीं हो सकता। समाधि में स्थित रहने पर मंत्रबद्ध भुजंग की भाँति तृष्णादि दोष जीव को धर्षित करने में अशक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार नदी के प्रबल वेग को अद्रि रोक लेता है, उसी प्रकार समाधि भी क्लेशों के वेग को तिरस्कृत कर देती है। समाधि और प्रज्ञा में घनिष्ठ संबंध है। प्रज्ञावान् दोषों का हनन ठीक उसी रीति से करता है, जिस प्रकार निम्नगा पावस-ऋतु में तीरस्थित वृक्षों को उखाड़ देती है। प्रज्ञानल से प्रदग्ध दोष पुनः प्रादुर्भूत नहीं होते। क्या कभी किसी ने अग्नि से प्रदग्ध वृक्ष को पनपते देखा है? धृति, आर्जव, अप्रमाद, विविक्तता, अल्पेच्छता, तुष्टि, असंगता, लोक-प्रवृता रति और क्षमा शिवप्रद पद की प्राप्ति के प्रधान साधन हैं। जो व्याधि से पीड़ित होने पर भी व्याधि को पहचानता और उस व्याधि का निदान और उपचार करता है, वह बहुत शीघ्र आरोग्य लाभ करता है। जन्म का दुःख रोग है। इसके निरोध का साधन योग-रूप भेषज है।

दुःख के निरोध के लिये वीर्य की अति आवश्यकता है। दुःख अनित्य है। ये निरात्मक हैं। ये उचित उपाय द्वारा ही उचित समय पर विनष्ट होते हैं। उचित समय की प्रतीक्षा आवश्यक है। अनवसर पर कार्य करने से कारण कार्य के रूप में परिणत नहीं हो सकता। यह सब कोई जानता

है कि गाय से दुग्ध अवश्य प्राप्त होता है। पर यदि एक आदमी उस गाय से दुग्ध प्राप्त करना चाहे, जिसे बछड़ा उत्पन्न न हुआ हो—तो वह क्या अपने उद्योग में कृतकार्य होगा ? उस अकाल दुहनेवाले को दूध नहीं मिल सकता। उचित समय पर भी, उचित उपाय के अभाव से, कार्य का साधन असंभव है। एक मनुष्य यदि मोहवश गाय के सींग से दूध दुहना चाहे, तो क्या दूध सींग से निकलेगा ? कदापि नहीं। आग का इच्छुक प्रयत्न करने पर भी आर्द्र काष्ठ से आग नहीं प्राप्त कर सकता। बिना उपयुक्त उपाय के शुष्क काष्ठ से भी आग नहीं प्राप्त हो सकती। अतः देश और काल की विधिपूर्वक परीक्षा कर, योग का अनुसरण कर कार्य संपादित करने से जीवन में सफलता संभव है, अन्यथा नहीं। आग को आग से सींचने से आग प्रशांत नहीं हो सकती। पानी आग को प्रशांत कर देता है। अतः उचित नियम का अवलंबन ही श्रेयस्कर है।

पित्तात्मन के लिये तीक्ष्ण उपचार ठीक है। द्वेषात्मन के प्रशमन के लिये मैत्री उपयुक्त साधन नहीं हो सकती। पित्तात्मन की शांति के लिये शीत उपचार निषिद्ध है। मूढ़ मनवाले के लिये प्रशमन-मार्ग अशांतिप्रद है।

सुगत ने पुनः नंद से कहा—हे नंद ! तृष्णा बलीयसी है। इससे सहसा छुटकारा नहीं हो सकता। इससे मुक्ति-लाभ

करने के लिये शत्रुता का अवलंबन करना पड़ेगा। वीर्य का परिचय देना पड़ेगा। क्षुधा से व्याकुल मनुष्य विष से मिला हुआ अन्न केवल जीने की इच्छा से प्रेरित होकर नहीं खाता। विद्वान् भी तृष्णादि को दोषपूर्ण तथा अशुभ का हेतु समझ-कर छोड़ देते हैं। जो मनुष्य दोष को देखते हुए भी उस दोष को दोष नहीं समझता, उसे कौन उससे निवारित कर सकता है ? गुण में जो गुण को देखनेवाला है, उसके रोकने पर भी वह उसके समीप जाता है। मनुष्य को उचित मार्ग पर लानेवाला योग ही है। यह प्रविवेक का पिता है, और क्लेश का विना-शक। पुनः कल्याण का मूल भी है। इस मार्ग के बटोही कौंडिल्य, विमल, कात्यायन, भद्रायण, सुभूति, सुदर्शन, काश्यप, शारद्वतीपुत्र, भृगु, मौद्गल्यगोत्र इत्यादि हो चुके हैं। इसी मार्ग के तुम भी यात्री बनो। इसके द्वारा तुम केवल परम-पद ही नहीं प्राप्त करोगे, वरन् यश के भाजन भी बनोगे।

स्मरण रक्खो, कटु द्रव्य रस से उपयुक्त होने पर मधुर हो जाता है, कटुक वीर्य भी अर्थसिद्धि प्राप्त कर मधुरत्व लाभ करता है। कार्य का मूल वीर्य ही है। वीर्य के विना सिद्धि की उपलब्धि सैकड़ों मील दूर है। सारी संपत्ति वीर्य ही से प्रादुर्भूत होती है। अवीर्यता पाप की खान है। जिस मनुष्य में वीर्य का अभाव है, वह अधोगति को प्राप्त करता है।

अशक्त पुरुष नीतिज्ञ होने पर भी सफलता से हाथ धो बैठता है। धर्म को जानते हुए भी वीर्य-रहित व्यक्ति ऊपर निवास नहीं पा सकता। मुक्ति के उद्देश्य से गृह का त्याग कर जो वीर्य-हीन मनुष्य अरण्य का आश्रय लेता है, वह शांति के अन्वेषण में सफलीभूत नहीं होता। पुरुषार्थ के अभाव के कारण अल्प साधन भी विफल हो जाते हैं।

उत्साह और वीर्य का फल महत्त्व-पूर्ण होता है। उत्साही मनुष्य पृथ्वी को विदीर्ण कर पानी निकाल डालता है, प्रस्तर के दो टुकड़ों को रगड़कर आग निकाल लेता है। प्रचंड वेग से प्रवाहित होनेवाली नदी पहाड़ को भी विदीर्ण कर, अपना मार्ग निकालती हुई समुद्र से जा मिलती है। अपनी भीमसेनी चेष्टा द्वारा पृथ्वी को चीर-फाड़कर कृषक शस्यश्री प्राप्त करता है। समुद्र के जल में यत्नपूर्वक प्रविष्ट होकर नाविक रत्नश्री उपलब्ध करता है। शत्रु के वीर्य को बाणों से विनष्ट कर नरेंद्र लक्ष्मी का उपभोग करते हैं। अतः हे नंद! शांति-लाभ के लिये वीर्य का अवलंबन करो।

सप्तदश सर्ग

भगवान् बुद्ध ने तत्त्व का मार्ग नंद को दिखा दिया। नंद इस मार्ग का अवलोकन कर, गुरु को प्रणाम कर क्लेश के

परित्याग के लिये कानन को चल पड़ा। अरण्य में उसने मृदु नील पर्ण-समन्वित एक शांत वृक्ष को देखा, इस वृक्ष को निःशब्दा निम्नगा आलिंगित कर रही थी, और इस सरिता की लहरें वैदूर्य नील मणि की शोभा को भी फीका कर रही थीं। इस स्रोत में पाद-क्षालित कर नंद ने उस पवित्र श्रीमान् वृक्ष के मूल-प्रदेश के समीप मोक्ष के लिये व्यवसाय की कछनी पहन ली। वह संयमी अपने समस्त काम-साम्राज्य के भीतर स्मृति को उच्च स्थान प्रदान कर, सारी इंद्रियों को रोककर योग में निलीन हो गया। वह निखिल तत्त्व की प्राप्ति के लिये मोक्षानुकूल विधि का अनुसरण कर ज्ञान तथा शम के मैदान में विचरण करने लगा। वह धैर्य धारण कर, वीर्य को अपनाकर, सक्ति* का परित्याग कर, शक्ति का ग्रहण कर प्रशांतचित्त से नियम में मन लगाकर विषयों से उदासीन हो स्वस्थ प्रतीत हुआ। पावस-ऋतु में जल को अनुसृत करती हुई बिजली जल को प्रक्षुब्ध कर देती है। काम ने भी नंद को व्याकुल करने की चेष्टा की। पर नंद ने इस धर्म-विघातक काम का काम अपने ध्यान से तमाम कर दिया। काम तथा अकुशल वितर्कों का उसने ज्ञान-दंड से दमन किया। विवेक-शर के द्वारा उसने क्लेश-द्रुम को प्रकंपित कर दिया। जगत् उसे अनित्य

* राग।

प्रतीत होने लगा। जन्म उसे दुःख का क्षेत्र आभासित हुआ। लोक शून्य देख पड़ने लगा। परतंत्र जगत् में केवल कर्म ही जागता देख पड़ा।

ग्रीष्म में उष्णता बढ़ जाने से पंखे के द्वारा लोग वायु प्राप्त करते हैं, पृथ्वी को खोदकर जल निकालते हैं; नंद ने समाधि द्वारा दुस्तर मार्ग का अवलंबन किया। वह सप्त ज्ञान का चाप हाथ में लेकर, स्मृति का कवच पहन, विशुद्ध शील-व्रत-वाहन पर सवार हो, क्लेश-शत्रु से भिड़ने के लिये तैयार हो गया। दुःख-प्रधान तृष्णा को उस मुमुक्षु ने स्मृति-बाणों का लक्ष्य बनाया। धृति, सत्य तथा शील की तोपों से तृष्णा के दुर्ग को उखाड़कर नंद धर्मागार में प्रविष्ट हुआ। यह भवन शांत, जरा से हीन और राग-शून्य था। इसमें प्रविष्ट होते ही मृत्यु का त्रास जाता रहा। यह शरीर केवल अस्थि, मांस आदि का पंजर प्रमाणित हुआ।

जब लोभ, क्रोध, मात्सर्य और मद को यह समाचार मिला कि नंद ने तृष्णा के दुर्ग पर आक्रमण कर विजयश्री प्राप्त कर ली है, तो इन्होंने नंद पर आक्रमण किया। वीरवर नंद ने योग-आयुध से तो लोभ की खबर ली; क्रोधादि रिपुओं को भी क्षमा-शर से प्रशांत किया। इसी प्रकार अन्य इंद्रिय-शत्रुओं

पर विजय लाभ कर नंद निर्वाण-पुर के द्वार पर पहुँचे। निर्वाण-पुर के भीतर समावेश पाने के लिये नंद ने पुरोपकंठ अध्यात्म-ध्यान के सरोवर में गोता लगाया। घाम से व्याकुल व्यक्ति जिस प्रकार शीतल जल में गोता मारकर वर्णनातीत आनंद का अनुभव करता है, दरिद्र जिस प्रकार विपुल अर्थ प्राप्त करने पर फूला नहीं समाता, नंद को भी इस ध्यान ने उसी प्रकार अलौकिक आनंद प्रदान किया। इस ध्यान-स्रव के द्वारा वह उस दुःखार्णव को पार हो गया, जो उसे निर्वाण-पुर में प्रविष्ट होते देख पड़ा था, एवं अर्हत्व प्राप्त कर वह निरुत्सुक, निष्प्रणय, वीतभेद, विराग और विशोक हो गया। वह मूर्ति-मान् धैर्य का अवतार प्रतीत हुआ। अपने पराक्रम द्वारा यह अवस्था उपलब्ध कर नंद मन-ही-मन बोला—मन! तेरी इस अवस्था का एकमात्र कारण वह करुणात्मक, परम हितैषी सुगत है। उसे वारंवार प्रणाम कर। उसी ने तेरे दुःख का विनाश किया। इस प्रचुर और अक्षय सुख को प्राप्त करानेवाला वही है। जिस प्रकार अंकुश दर्पान्वित नाग को सुमार्ग पर प्रचलित करता है, उसी प्रकार गुरु का वचनांकुश तुझे दुःखात्मक मार्ग से इस सुखात्मक मार्ग पर ले आया है। उस कारुणिक के उपदेश द्वारा ही आज तू हृदय के राग-शल्य को समूल उखाड़ इस सुख का भागी हुआ।

उसी के अनुग्रह से प्रदीप्त कामाग्नि को धृति-जल से प्रशांत कर आज तू परम अनंद का आस्वादन कर रहा है।

आज मेरे लिये न कोई प्रिय है, न अप्रिय। मुझे किसी से अनुरोध है, न विरोध। मेरी अवस्था ठीक उस व्यक्ति की भाँति है, जो हिम और आतप, दोनों से विप्रयुक्त हो गया हो। महाभय से मुक्ति पाने पर जीव को जैसा आनंद मिलता है, महावरोध से छुटकारा पाने पर जिस प्रकार प्राणी विशेष प्रसन्नता लाभ करता है, भयंकर अंधकार से प्रकाश में आने पर जिस प्रकार व्यक्ति को आह्लाद होता है, रोग से आरोग्य लाभ करने पर रोगी जैसे खुश होता है, ऋण के परिशोध करने पर ऋणी को जैसी अपरिमित शांति मिलती है, दुर्भिक्ष के बाद सुभिक्ष के आगमन से प्रजा जैसा संतोष लाभ करती है, उनसे भी अधिक आनंद मुझको जन्म-दुःख पार होने पर प्राप्त हो रहा है।

महात्मन्! तू धन्य है। तुझे वारंवार प्रणाम है। तू ही मुझे उस विशाल पर्वत के उन्नत शिखर पर ले जाकर, एकाक्षी वानरी का दर्शन कराकर स्वर्ग-लोक क ले गया। तू ने ही मुझे स्वर्ग-लोक में संचरण करनेवाली रमणियों के प्रेम-पंक में निमग्न करा दिया था। तू ने ही मुझे उस अनर्थ-कर्दम से मुक्त कर इस शांत, विज्वर, विशोक

और नैष्ठिक धर्म में लगा दिया है। प्रभ ! तू महर्षि है, अनुकंपक है, प्रकृति-गुणज्ञ है, आशयज्ञ है, भिषक्-प्रधान है, त्राता है। सुगत ! तुझे पुनः-पुनः प्रणाम है।

अष्टादश सर्ग

ब्राह्मण का बालक जैसे विद्या प्राप्त कर कृतार्थ होता है, वणिक् लाभ उठाने पर अपने को कृतकृत्य समझता है, राजा शत्रु की सेना पर विजय-लाभ कर प्रसन्न होता है, वैसे ही नंद अर्हत्व प्राप्त कर कृतार्थ हुआ, और गुरु के दर्शन के लिये चल पड़ा। ज्ञान प्राप्त करने के अनंतर शिष्य गुरु महाराज के दर्शन का प्रबल आकांक्षी हो जाता है। गुरु भी ऐसे शिष्य को देखकर, अपने परिश्रम को सफल समझ अपार आनंद प्राप्त करता है। आज नंद गुरु के दर्शन के लिये उत्सुक हो रहा है। इसके शरीर पर काषाय वस्त्र है, वह सुवर्ण-सा देदीप्यमान है। मार्ग तय कर वह गुरु महाराज के पास पहुँचा, और श्रीचरणों पर माथा रख बोला—कारुणिक ! मेरे संशय दूर हु गए। मेरे हृदय-शल्य को आपके वाक्य-संदंश ने उखाड़ डाला। आपके वचन-रूप महौषध ने उस कंदर्प-विष को समूल विनष्ट कर दिया, जिसका आस्वादन मोहवश मेरी इंद्रियों ने किया था। मैं अब सद्धर्मचर्या में आसक्त हूँ। प्यास

से व्याकुल गोवत्स जिस प्रकार मा का दूध पीकर तृप्त हो जाता है, मैंने तुम्हारी धर्म-दोग्ध्री वाणी का पान कर अनिर्वचनीय तृप्ति-लाभ किया। तुम तो सर्वज्ञ हो। तुम्हें तुम्हारे कर्तव्यों से अवगत कराने की चेष्टा करना दिनमणि को दीपक दिखाना है।

नंद की धर्मान्वय बात सुनकर मुनि जलद्-गंभीर स्वर से बोले—नंद ! तुम धर्म में स्थित हो, तुम धर्मज्ञ हो, जितात्मा हो। तुमने आत्म-जगत् में ऐश्वर्य-लाभ किया है। जितात्मा का प्रव्रजन श्लाघ्य है। अजितेंद्रिय का संन्यास घृणास्पद है। तुम्हारा मन विशुद्ध है। तुम्हें पुनः गर्भशय्या पर नहीं सोना पड़ेगा। तुम शूर हो; क्योंकि तुमने दुर्निवार्य मार की सेना को परास्त किया है। वह शूर होने पर भी अशूर है, जिसके दोष-शत्रु निर्जित नहीं हुए। यह देखकर मुझे परम हर्ष हुआ है कि तुमने प्रदीप्त रागाग्नि को समाधि-जल से प्रशांत कर दिया। अब तुम सुख-पूर्वक सोओगे। जिसका चित्त क्लेशाग्नि में प्रदग्ध हो रहा है, वह कोमल शय्या पर लेटकर भी दुःख का ही अनुभव करता है। मुझे विनीत और निभृत नंद के देखने की इच्छा थी, आज उसे देख सफल-परिश्रम हुआ। कुरूप भी श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत होने पर दर्शनीय देख पड़ता है, सुदर्शनीय मलिन गुणों से युक्त होने पर भी विरूप ही प्रतीत होता है। तेरी बुद्धिमत्ता

प्रकृष्ट है। इसके द्वारा तूने अपना कार्य साध लिया। अच्छे कार्य के संपादन में जो बुद्धि को नहीं लगाता, वह विद्योपार्जन करने पर भी निर्बुद्धि है। जिस मनुष्य के प्रज्ञा-चक्षु नहीं है, वह नेत्रवान् होकर भी नयन-विहीन है। दुःख मुझे न देखना पड़े, केवल सुख का ही आस्वादन मैं सदा करता रहूँ—लोक की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। पर जो इसकी अनित्यता समझता है, वही ज्ञानी है। आज तूने असुलभ सुख का लाभ किया।

स्थिर-बुद्धि सुगत की बात सुन, स्तुति तथा निंदा में निर्व्यपेक्ष नंद हाथ जोड़कर बोला—हे विशेषदर्शी! तुमने मेरे ऊपर अनुपम अनुकंपा दर्शाई है। भगवन्! तुमने काम-पंक में निमग्न इस जीवात्मा का उद्धार किया है। यह केवल तेरी ही करुणा का फल है कि मैं तत्त्व का पान कर, दोषों को दूर कर, शांति की प्राप्ति कर उस वैभव-पूर्ण प्रासाद को भूल गया, उन अप्सराओं की चिंता जाती रही, और अब मैं देवत्व-पद का भी आकांक्षी नहीं। मेरे इस शुचि, शामिक सुख के सामने देवतों की सुधा तृणवत् है। अहो! जगत् किस प्रकार अज्ञान में निमीलित है! कौन उत्तम सुख है—यह इसे दृष्टिगोचर नहीं होता। दुर्बुद्धि मनुष्य रत्नाकर में प्रविष्ट होकर भी, उत्तम रत्नों का परित्याग कर घोंघे और सीतुहे से ही संतुष्टि-लाभ करता है।

जीर्ण जगत् की भी यही अवस्था है। यह काम-सुख की उपलब्धि के लिये ही सचेष्ट रहता है। गुरुदेव! मैं तुम्हारी इस महती कृपा का प्रतिफल किस प्रकार से दूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। तुमने इस भवार्णव से मेरा उद्धार किया है।

इस पर मुनि बोले—"धीमन्! तुम कृती हो। तुमको अपने लिये अब कुछ नहीं करना है। सौम्य! आज से तुम इस जगत् में पर्यटन करते हुए कृच्छ्रगत जीवों का उद्धार करो। जो लोग केवल अपने लाभ के लिये चेष्टा करते हैं, वे अधम हैं। मध्यमवर्ग के लोग वे हैं, जो अपने तथा पराए के कल्याण के लिये प्रयत्न करते हैं। पर उत्तम वे ही हैं, जो नैष्ठिक धर्म की प्राप्ति कर, अपने परिश्रम की परवा न कर सदा दूसरों को शांति पहुँचाने का प्रयास करते हैं। अतः हे स्थिरात्मन्! अपने कार्य को छोड़कर पर-कार्य में लग जाओ; अज्ञान-अंधकार में भटकते हुए प्राणियों को इस ज्ञान-दीपक के सहारे कर्तव्य-क्षेत्र में ले आओ। तुम्हारी प्रजा तुम्हें धर्मोपदेश करते देखकर विस्मित हो जायगी। तुम्हारे स्थिर मन को देखकर विषय और मनोरथों से निवृत्त हो तुम्हारी वधू तुम्हारे पथ की प्रथम अनुगामिनी होगी। सबसे पहले घर का सुधार प्रशंसनीय है।"

अर्हत नंद परम कारुणिक के आदेश को शिरोधार्य कर,

उनकी चरण-रज का स्पर्श कर प्रशांत हृदय से उनसे बिदा हुआ। आज वह उसी नगर में भिक्षुक के रूप में प्रविष्ट हुआ, जहाँ वह राजा की स्थिति में निकला था। समय! तू कैसा क्रांति-प्रवर्तक है; कैसा अज्ञेय, दुर्भेद्य एवं अपरिमेय तेरा बल है। जो तेरी महत्ता को समझता है, वही मनुष्य है। जिसने तेरा समीचीन उपयोग किया, उसी का जीवन सार्थक है। वह सदा विजेता रहेगा; वह कदापि विजित नहीं हो सकता।

आज नंद के लिये लाभालाभ और सुखासुख बराबर है। वह आज चंचलेंद्रिय नृपेंद्र नहीं, स्वस्थेंद्रिय अर्हत नंद है। वह निस्पृह है।

अर्हत ने नगर में प्रविष्ट हो उन्मार्ग-गामियों को धर्मोपदेश से अपनी ओर आकृष्ट किया, और उनकी निर्मुक्ति के लिये अपना सारा जीवन लगा दिया।

